

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 9 अंक 1

जुलाई-सितम्बर 2011

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

सह-सम्पादक

शंकर शरण

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपए
अन्दर कवर	7,500.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. अन्ना की आंधी के मायने रामबहादुर राय	11
2. अन्ना का आंदोलन और नई संभावनाएं पवन कुमार गुप्त	17
3. गाँधी जी की अंतर्दृष्टि धर्मपाल	26
4. स्वागत योग्य हैक्षमा याचना का यह रुझान महीप सिंह	43
5. पारिवारिक जटिलताएँ : जैनेन्द्र के उपन्यास पुष्पपाल सिंह	47
6. साहित्य और राजनीति की देवियाँ शत्रुघ्न प्रसाद	56
4. 21वीं सदी के हिन्दी दलित लेखकों के सामने चुनौतियाँ सुनील बाबुराव कुलकर्णी	60
5. सूचना प्रौद्योगिकी में नागरी लिपि के धीमे कदम ओम विकास	65

6. पुस्तक-समीक्षा : समीक्षा के नए आयाम दीनानाथ सिंह	71
7. समीक्षा : संभावनाओं की सीमाओं को लाँघने वाली अभिव्यक्ति : 'सड़क अभी दूर है' डॉ. विश्वास पाटील	87
8. समीक्षा : प्रबुद्ध हिंदुइज्म का विमर्श* कृपाशंकर सिंह	92
9. समीक्षा : यह मनोजगत का उपन्यास है महेश दुबे	99
10. प्रोफेसर राजाराम शास्त्री कैलाश चंद्र मिश्र	103
11. छायावाद : नारी-इयत्ता का नया आख्यान सुरेंद्र नारायण यादव	109
12. मूल्य शिक्षा : गुणवत्ता सुधार के आयाम अर्जुन के. तड़वी	114
पाठकीय प्रतिक्रिया	120
प्राप्ति-स्वीकार	126

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

सार्थक बदलाव के लिए

आजादी के बाद हमारे मूल्यों के स्वलन के दुष्परिणाम भारतीय जनजीवन, राजनीति एवं शासनतंत्र पर पड़ना स्वाभाविक था। इससे हमने कई क्षेत्रों में अपेक्षित बदलाव के अवसर खोए। समाज की केन्द्रीयता घटी; नागरिक हासिए पर तथा सुविधाभोगी विशिष्ट वर्ग तथा उसका स्वार्थ केन्द्र में आता गया। इससे उपजी संवेदनहीनता ने सरकारी तंत्र की पहल करने की क्षमता छीन ली। ऐसे में बाबा रामदेव एवं अन्ना हजारे की काले धन एवं भ्रष्टाचार के विरुद्ध किए गये पहल को जन समर्थन तो मिलना ही था। सरकार ने प्रारंभ में इन आंदोलनों को पुलिसिया तरीके से दबाना चाहा; बाबा रामदेव के साथ ऐसा किया भी; जनता स्तब्ध थी। बाद में अन्ना हजारे के साथ ऐसा चल न सका। उनको मिले जन-समर्थन एवं सत्ता प्रतिष्ठानों के विरुद्ध जन-आक्रोश ने भारतीय शासन तंत्र को झकझोर कर सार्थक बदलाव की पहल के प्रति सचेत किया।

भारत की आजादी के 64 वर्ष पूरे होनवाले हैं। मात्र 36 वर्ष बाद हम आजादी के सौ साल पूरे करेंगे। प्रश्न है कि आजाद भारत में इन चौंसठ वर्षों में क्या क्या बदला है? क्या न्याय-व्यवस्था, न्यायालयों की कार्य-पद्धति, उनकी भाषा, डेढ़ डेढ़ सौ वर्ष पुराने देश को गुलामी की बेड़ी में जकड़ कर रखने के लिए बने कानून बदले हैं? क्या पुलिस, उसका पूरा तंत्र, गुलामी के दिनों के पुलिस अधिनियम, पुलिस जनों की मनोवृत्ति भी, उनकी कार्य-शैली बदली है? क्या शिक्षा में बदलाव आया है? क्या शिक्षा की भाषा नीति, लक्ष्य, पद्धति आदि में बदलाव आया है? क्या आजादी के बाद गाँवों, किसानों, मजदूरों की हालत तुलनात्मक रूप में सुधरी है? ग्रामीणों का पलायन रूका है? क्या ग्रामोद्योग जिन्हें अंग्रेजों ने नष्ट भ्रष्ट कर दिया था, पुनर्स्थापित हो पाये हैं? ऐसे ही और भी अनेकों प्रश्न हैं, जिनका उत्तर हम निषेधात्मक ही पायेंगे।

आखिर बदलाव क्यों नहीं आये? इस देश की राजनीति एवं शासन तंत्र में जड़ता क्यों बनी रही? इसके सूत्र हम इस अंक में छपे धर्मपाल के लेख में पा सकते हैं। उन्होंने लिखा है :

“अंग्रेजों के विचारों एवं कार्यों ने हमारे समाज को तोड़ा, उसे रूढ़िग्रस्त बनाया, और हमारे कुछ लोगों को (उनकी संख्या आज शायद 5-10 लाख होगी), “बिना समझ का अंग्रेज” बना दिया। और अंत में उन्होंने ऐसे ही “अंग्रेजों” को भारत का राज्य सौंप दिया। ऐसा होने में सभी बड़े अंग्रेजों का हाथ रहा। वे एक तरह से सभी विलियम विलवर फोर्स (जिन्होंने 1813 ई. में ब्रिटेन के हाउस आफ कामन्स से यह

तय करवाया कि भारत में ईसाइयत फैलाना अंग्रेजी राज्य का मुख्य कार्य है) व जेम्स मिल और मैकाले, जिनके विचार से भारत की सभ्यता सबसे गिरी हुई थी, के बौद्धिक वंशज थे।”

धर्मपाल ने फिर लिखा है :

“जैसे जैसे स्वतंत्रता करीब दिखने लगी, वैसे-वैसे ये पश्चिमीकृत लोग धीरे-धीरे गांधीजी से हटकर पश्चिमी दृष्टिकोण, योजनाओं और व्यक्तियों के करीब पहुँचने लगे। हमारे पश्चिमीकृत लोगों ने हथियार डाल दिए और जो जो अंग्रेज चाहते थे वो वो उन्होंने धीरे-धीरे स्वीकार कर लिया। इसी काम को कराने के लिए इंग्लैंड ने माउंटबेटन को भारत का वायसराय चुना था। माउंटबेटन बहुत कुछ राबर्ट क्लाइब (1748-1773) जैसे ही थे। उन्हें भारतीयों के धीमेपन का आंदाजा था और दोनों का काम यह रहा कि भारतीयों को ऐसा दौड़ाएँ कि वे घबड़ाकर और थक कर बैठ जाएँ। माउण्टबेटन की व्युह रचना ही कुछ इस तरह की थी कि भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन कुछ धीमा पड़े भारत में कुछ अराजकता बढ़े और भारत अंग्रेजों से राय व मदद माँगने के लिए लाचार बने। मेरे विचार से यह सब हुआ। दिसंबर 1946 के अन्तिम दिन माउंटबेटन ने ब्रिटेन के राजा जॉर्ज षष्ठ को तीन पन्ने का एक लम्बा पत्र लिखा, उसमें उन्होंने इस व्युह रचना का कुछ आंदाजा दिया है।”

इसके साथ ही एक दूसरा तबका मार्क्सवादियों का भी है, जिनके लिए आजादी झूठी थी; वे भारत विभाजन के पक्षधर थे, जिन्होंने पाकिस्तान बनाने का तर्क दिया था तथा भारत छोड़ो आन्दोलन का विरोध किया था। आजादी के बाद मार्क्सवादियों ने हिंसा द्वारा सत्ता प्राप्ति का प्रयास किया था, जैसा कि आज उन्हीं के वंशज एवं विचारधाराके नक्सलवादी कर रहे हैं। इस देश में अलगाववादियों को इनका समर्थन प्राप्त है। इन्दिरा गांधी के शासनकाल में कांग्रेस पार्टी, प्रशासन, शिक्षा-जगत में, पी. एन. हक्सर जैसे लोगों की मदद से, इनकी जबर्दस्त घुसपैठ हुई, जिसकी विस्तृत जानकारी राज थापर की पुस्तक *आल दीज इयर्स* में मिलती है। इस घुसपैठ, विशेषतः शिक्षा एवं “मेडिया” के क्षेत्र में हुई घुसपैठ का, बुरा प्रभाव पड़ा। सामाजिक मूल्य ध्वस्त हुए; वैचारिक धुंध बढ़ी। आजादी के साढ़े तीन साल बाद 26 जनवरी 1950 को भारत का संविधान पारित कर लागू किया गया। इसमें गाँव के स्तर पर स्वशासन का प्रावधान नहीं था। एक हद तक वैसा 73 वें एवं 74 वें संविधान संशोधन द्वारा ही संभव हो सका। लेकिन यहाँ भी सम्मुख लोकतंत्र नहीं लाया जा सका; सर्व-सम्पत्ति का परंपरागत तत्त्व का अभाव रहा; राष्ट्रीय राजनीति की सारी खामियाँ - भ्रष्टाचार, द्होट के लिए समाज को बाँटना - आदि दुर्गुण गाँव तक जा पहुँचे।

ऊपर हम बदलाव की बात कर आये हैं। बहुत कुछ, जिसे बदला जाना चाहिए था, जिसका जुड़ाव हमारी गुलामी से रहा है, नहीं बदला है। साथ ही, बहुत कुछ अवांछित रूप से बदला भी है। आजादी के बाद राष्ट्र कमजोर हुआ है; राज्य की

सशक्तता बढ़ी है। लोकजिसे वस्तुतः लोकतंत्र में शक्ति का श्रोत होना चाहिए, जो सार्वभौम हैकमजोर हुआ है; वह हासिए पर गया है। तंत्र, लोक का प्रतिनिधि सशक्त हुआ है, आजादी के तीन-चार दशकतक समाजवाद के नारे लगते रहे; साथ ही समाज की केन्द्रीयता लगातार घटती गयी। वस्तुतः समाजवादी व्यवस्था कीबात करनेवालों की दृष्टि में समाजवाद एवं नौकरशाहीकरण में कोई भेद नहीं था। इस व्यवस्था ने लाइसेंस परमिट राज को जन्म दिया, जिससे विकास रुका; भ्रष्टाचार एवं काला धन बढ़ा।

स्वस्थ लोकतंत्र के लिए सहमति (concensus) एवं जनमत की सहमति लोक/नागरिक समाज एवं राजनीतिक दलों, दोनों ही स्तरों पर बननी चाहिए। जनमत जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्र, भाषा, आदि के विचार से ऊपर उठकर राष्ट्र-केन्द्रित बने। दुर्भाग्यवश, ऐसा हो नहीं रहा है। इस देश की राजनीति को ऐसा कुछ भी करने से परहेज नहीं जिससे समाज टूटता हो, देश कमजोर होता हो, बशर्ते कि उससे सत्ता-प्राप्ति की राह आसान बनती हो। ऐसे में चुनाव जीतने के लिए उन्हें गलत साधनों के उपयोग से परहेज न रहा। कुल मत्तों के क्षुद्र प्रतिशत से तो सांसद एवं विधायक पहले ही जीतकर आते रहे थे; अब हिंसा एवं पैसे के बल पर उनका चुनाव जीतना और आसान हो गया। ध्यातव्य है कि 1989 के संसद के चुनाव में 100 से अधिक लोग मरे थे। फरवरी 1990 के विधान सभाओं के चुनाव में भी लगभग उतने ही लोग मरे थे; जबकि 1991 के लोक सभा के चुनाव के दौरान मरनेवालों की संख्या 289 से अधिक हो गयी थी। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि मरनेवाले अधिकांशतः साधारण लोग थे, जबकि लाभार्थी जिस वर्ग से आते रहे, उसका दायरा लगातार छोटा होता गया। अधिकांश दलों पर कुछ परिवारों का वर्चस्व लगातार बढ़ता गया। राजनीतिक दलों के अंदर लोकतांत्रिकता के क्षरण, पदों के मनोनयन द्वारा भरे जाने, आंतरिक चुनावों के लगातार टाले जाते रहने से स्थिति लगातार बिगड़ती गयी। पार्टी पदाधिकारियों, विशेष रूप से अध्यक्षों के इर्द-गिर्द चापलूसों-चाटुकारों, की सेना खड़ी हो गयी। यह संसदीय लोकतंत्र को कमजोर करने का एक बहुत बड़ा कारक बना।

हिंसा के अतिरिक्त धन खर्च कर चुनाव जीते जाने लगे। धन खर्च कर चुनाव जीतो, फिर चुनाव जीतकर उसकी भरपाई ही नहीं, बल्कि कई गुणा अधिक, कई पीढ़ियों के लिए धन कमाओ। एक अनैतिक दुष्क्र! जन-संशाधनों की अनवरत-लूट!! इससे भ्रष्टाचार बढ़ा। काली-कमाई विदेशी बैंको में जमा होती रही। निश्चय ही इसमें भारतीय राजनीति, प्रशासन, अर्थतंत्र के भ्रष्ट तत्त्वों एवं अपराधियों की सम्मिलित भूमिका रही। जन-प्रतिनिधियों की सार्थक भूमिका इसमें बाधक हो सकती थी, लेकिन उल्लिखित कारणों से ऐसा नहीं हुआ। उनके स्वयं के चारित्रिकक्षरण का एक उदाहरण संविधान-विद डॉ. दुर्गादास बसु ने अपनी पुस्तक “भारत का संविधान : एक परिचय” (पृष्ठ: 415) में दिया है :

“जनता के प्रतिनिधियों की संकीर्णता एवं स्वार्थपरकता का निर्लज्ज उदाहरण नवीं लोक सभा की अंतिम बैठक में देखने को मिला जब सांसदों ने सर्वसम्मति से अपने पेंशन में वृद्धि और जिन परिस्थितियों में पेंशन नहीं मिलती थी उनमें भी पेंशन देने का उपबंध कर लिया। यह सब तब किया जब कुछ ही देर पश्चात संसद का विघटन होने जा रहा था। उन्होंने इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा कि वित्तीय दायित्व डालनेवाले विधेयक या संकल्प पुरःस्थापित करने के लिए राष्ट्रपति की सिफारिश होना आवश्यक है। बिना सिफारिस के ऐसा विधेयक पुरःस्थापित नहीं हो सकता (संविधान का अनुच्छेद 117(1))।

उल्लेख्य है कि संवैधानिक प्रावधानों के उल्लंघन की यह अकेली घटना नहीं है। समान नागरिक संहिता स्थापित करने का संविधान के अनुच्छेद 44 का निदेश, मूल कर्तव्यों संबंधी अनुच्छेद 51 के प्रावधान, मादक पेयों के प्रतिषेध से संबंधित निदेशों का परिपालन न होना, इसके कुछ उदाहरण हैं। राजनीतिक क्षुद्र स्वार्थों के चलते लाखों बंगलादेशी भारतीय नागरिक बन गये हैं। इससे भारतीयों के प्रतिनिधि चुनने के सावभौमता का स्खलन हुआ है। कई राज्यों में विधान-सभा एवं मंत्रीमंडल के गठन में विदेशी नागरिकों की प्रभावी असंवैधानिक भूमिका चिन्ताजनक हो गयी है। बातें ओर भी हैं जो वर्तमान संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली के प्रति लोगों के मन में अविश्वास एवं अनास्था पैदा करती हैं। आखिर ऐसे लोग लोक सभा एवं राज्य विधान सभाओं में पहुँचकर मंत्री तक कैसे बन जाते जाते हैं। जिन्हें जेलों में होना चाहिए? यदि कोई सरकार मुख्य सतर्कता आयुक्त के पद पर किसी दागी व्यक्ति को बिठा देती है तो उस सरकार पर और उसके गठन में प्रभावी व्यवस्था के प्रति अविश्वास क्यों न पैदा हो? क्या राजा तथा थोमस जैसों को हटाने के लिए सर्वोच्च न्यायालय के निदेश के पहले ही मनमोहन सिंह सरकार को पहल नहीं करनी चाहिए थी? और यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया, किसी दागी को मंत्री पद पर बिठाकर वे खुली लूट को देखते रहे तो उनसे ईमानदार पहल की उम्मीद लोग क्यों करें? वस्तुतः मनमोहन सिंह एक निहायत ईमानदार व्यक्ति हैं, लेकिन ईमानदार प्रधान-मंत्री नहीं।

जैसा कि हम सभी जानते हैं न भ्रष्टाचार इस देश के लिए नया मुद्दा है और न काले धन से जुड़ा मुद्दा। संसद एवं सरकार को इन समस्याओं के हल के लिए पहल करनी चाहिए थी। ऐसा करना तथा लोकपाल बिल को दशकों तक लटकाए रखना किसी भी सरकार के लिए बुरी बात रही है। ऐसी स्थिति में सरकार को अपनी नैतिक हार स्वीकार करते हुए अन्ना हजारे एवं बाबा रामदेव की सामयिक पहल का स्वागत करना चाहिए था। बाबा रामदेव एवं अन्ना हजारे को भी अपना अड़ियल रूख छोड़कर बात करनी चाहिए थी। दुर्भाग्यवश, इस देश में मुद्दे की केन्द्रीयता का स्थान व्यक्ति की केन्द्रीयता ले लेती है और बात बिगड़ जाती है। सुखद है कि अन्ना हजारे की बात तो सरकार एवं संसद ने मान लिया है।

कुछ लोगों को नागरिक समाज की पहल पर एतराज था। इसमें अंग्रेजी के पत्रकार भी सामिल थे। कांग्रेस के लिए यह “Tyranny of the Unelected, टिरनी आफ द अनइलेक्टड” याने “नहीं चुने गये लोगों की तानाशाही” थी। प्रणव मुखर्जी के अनुसार “यदि पाँच छ इजार लोग बाहर से हुक्म चलाएँ कि संसद क्या करे तो लोकतंत्र कमजोर होगा।” यहाँ सवाल यह उठता है कि राष्ट्रीय सलाहकार समिति (National Advisory Committee; NAC) को यह अधिकार कहाँ से मिल गया कि वह देश के लिए कानून बनाए। क्या कांग्रेस पार्टी संसद के कार्य को “आउटसोर्स” कर सकती है? यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि राष्ट्रीय सलाहकार समिति ने एक ऐसे बिल (Prevention of Communal and Targeted Violence (Access to Justice and Reparation) Bill 2011 (www.nac.nic.in/pdf/pctr_bamended.pdf) का मसौदा तैयार किया है, जो निहायत मूर्खतापूर्ण ही नहीं, समाज में विद्वेष एवं हिंसा फैलानेवाला है। इस बिल के प्रावधानों के अनुसार किसी भी हिन्दू को कभी भी कठघरे में खड़ा किया जा सकता है।

लोकपाल बिल के विषय में चल रहे विवाद के विषय में कुछ बातों का उल्लेख आवश्यक है। केन्द्र में जब भी किसी भी दल की सरकार बनती है तो वह “लोकपाल बिल” जैसे विधायकों को टालती रहती है। इससे जनमानस में अविश्वास पैदा होता है। भ्रष्टाचार, काले धन की वृद्धि की स्थिति में जन आक्रोश भी पैदा होता है, जिसे प्रायः ही सरकारें समय पर समझ नहीं पातीं। बाबा रामदेव एवं अन्ना हजारे को मिले जन-समर्थन का राज भी इसी में छिपा। लेकिन यह भी सच है कि लोकपाल के आ जाने से भ्रष्टाचार पूर्णतः मिट नहीं जायगा, इसपर लगाम अवश्य लग जायेगी। साथ ही सभी राजनीति-कर्मी भ्रष्ट नहीं हैं। फिर यदि इसकी संभवना है कि उच्चतम पदों पर भ्रष्ट लोग पहुँच जायेंगे तो लोकपाल के साथ भी ऐसा हो सकता है। आखिर केन्द्रीय समर्कता आयोग के मुखिया तो थोमस बन ही गये थे।

इस देश में केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो, केन्द्रीय सतर्कता आयोग जैसे संस्थानों एवं अनेकों, प्रायः हर राज्य में, भ्रष्टाचार निवारण संबंधी कानूनों की असफलताओं पर चर्चा किए बिना रोज नये संस्थान एवं कानून बनाए जाने से सत्ता संस्थान सशक्त होते हैं; सत्तावाद बढ़ती है, जिससे अन्ततः नागरिक समाज को खतरा है। फिर यह आवश्यक है कि जनता को शिक्षित, अभिप्रेरित कर चुनाव प्रक्रिया का लाभ लेकर ऐसी समस्याओं पर नियंत्रण पाया जाय। शिक्षा पद्धति में बदलाव द्वारा मूल्यों की पुनर्स्थापना तो आवश्यक है ही। वैसे सरकारों को झकझोरने एवं जनता को जगाने के लिए जन-आंदोलनों के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता।

ब्रज बिहारी कुमार

अन्ना की आंधी के मायने

रामबहादुर राय'

आज जो होता है उसमें बीता और आने वाला कल भी शामिल रहता है। यही अन्ना का आंदोलन बताता है। इसे यूं समझें। इतिहास भविष्य के लिए संदर्भ का काम करता है। वर्तमान समय अतीत और भविष्य की निरंतरता में कड़ी बनता है। अन्ना के जन-ज्वार की सही थाह लेने के लिए यह समझना जरूरी है कि 16 से 28 अगस्त तक देश के हर हिस्से में जो घटित हुआ वह आजका ही नहीं है। उसमें कल का वह ताजा अतीत जितना समाया हुआ है उतना ही आजादी के बाद के आंदोलनों का अधूरा सपना भी है। इसे थोड़ा और पीछे ले जाएं तो कह सकते हैं कि आजादी की लड़ाई के अधूरे सपने की इसमें कसक है जिसे इस पीढ़ी ने अभिव्यक्ति दी है। यह सही है कि इसकी किसी को वैसी उम्मीद नहीं थी जैसा कि घटित हुआ है।

लोग शहीदों की कुर्बानी भूलते जा रहे थे। आजादी के आंदोलन के वादे को नकारा जा रहा था। गांधी को शोभा की वस्तु बना दिया गया था। यह आंदोलन उस श्रृंखला को पुनर्जीवित करता है। एक टीवीएंकर ने जब यह कहा कि इसमें 15 अगस्त जैसा उमंग और उत्सव का भाव दिख रहा है तो पुण्य प्रसून वाजपेयी ने उसमें सही जोड़ा कि अन्ना के अनशन के टूटने से 15 अगस्त और 26 जनवरी दोनों का मेल होगया है। अर्थ यह हुआ कि आजादी और जनतंत्र ने पुनर्जन्म लिया है। जब अन्ना ने अनशन तोड़ने की घोषणा की और कहा कि यह आधी जीत है तो देश भर में दिवाली मनाई गई। यह इस बात का परिचायक है कि लोगों ने अपने खून-पसीने से जो जीत हासिल की है उसपर उन्हें गर्व का अनुभव हो रहा है।

आंदोलन छोटा हो या बड़ा उसे जनजीवन से जोड़कर ही देखा और समझा जा सकता है। वह कोई अलग-थलग घटना नहीं होती। जो घटित होता है उसमें कार्य-कारण का सम्मिश्रण होता है और उसकी अखंडता होती है। इसके बगैर कोई आंदोलन सजीव, प्राणवान और प्रवाहमान हो ही नहीं सकता। जनजीवन अखंड बना

'लेखक वरिष्ठ पत्रकार तथा 'प्रथम प्रवक्ता' पाक्षिक के सलाहकार सम्पादक हैं।

रहना चाहता है। स्वस्थ समाज में उसकी अखंडता अक्षुण्ण रहती है। उसकी व्यवस्था चरमराने पर या तो उदासी आती है या विद्रोह का भाव। विद्रोह का विचार ही आंदोलन में फलित होता है। अन्ना आंदोलन को देखने का एक नजरिया यह भी हो सकता है। यह ऐसा अचानक पैदा हुआ आंदोलन है जिसने सोचने- समझने वालों को चकित कर दिया है। इसका एक कारण अपनी विचित्रताएं हैं।

जो इसमें संभावनाएं खोज रहे हैं उनके लिए यह भारत की नियति के निर्धारण का यज्ञ जैसा है। इसकी धूरी अन्ना हजारे हैं। ऐसे लोग भी कई सवालों से खुद को रूबरू पाते हैं। एक यह कि इसमें शामिलयुवा की प्रेरणा क्या है। यह उनके लिए बड़ा सवाल इसलिए बन गया है क्योंकि प्रत्यक्षतः यह दिखाई नहीं पड़ता कि इसमें किसी बड़े संगठन की भूमिका है और उसके तंत्र का फैला हुआ आधार सहायक है। इसी मायने में जेपी आंदोलन से इसकी तुलना नहीं की जा रही है। एक समानता अवश्य है। जिस तरह 18 मार्च 1974 को बिहार विधानसभा को घेरने का आह्वान करने वाले नहीं जानते थे कि उनकी अपील कहां तक पहुंचेगी और कितने लोग आएंगे, उसी तरह 16 अगस्त को अन्ना की टीम भी अंधेरे में ही थी। अगर न होती तो अन्ना हजारे को मयूर विहार के सुप्रीम इंक्लेव में ठहराने की जरूरत महसूस नहीं होती। वह फैसला आंदोलन की समरनीति में था।

इतना तो सभी मानते हैं कि अन्ना का एजेंडा लोगों के दिल और दिमाग पर छाया हुआ था। जनलोकपाल एक प्रतीक बन गया। लोग भ्रष्टाचार, कालेधन और सरकार की कुव्यवस्था से परेशान थे। इसलिए जनलोकपाल के एजेंडे को अपना लिया। अन्ना हजारे ने आमरण अनशन की घोषणा कर प्राण की बाजी लगा दी। इससे नेतृत्व का अभाव तक्षण पूरा हो गया। जब एजेंडा हो और एक निस्वार्थ नैतिक नेतृत्व हो तो आंदोलन के लिए तीसरी जरूरत व्यापक संगठन की होती है। ऐसे संगठन की जिसमें प्रतिबद्धता हो और लंबे संघर्ष की क्षमता हो। इस आंदोलन ने कुछ लोगों को चकित किया है तो इसी वजह से किया है कि इसमें जो युवा आए वे किसी भी प्रतिबद्ध संगठन से जो अपेक्षा की जाती है उससे कहीं ज्यादा खरे निकले। अहिंसक तौर-तरीका अपनाने की नेतृत्व ने जो अपील की उसे भीड़ कम ही मानती है लेकिन इस आंदोलन की भीड़ ने वह अनुशासन दिखाया, जो सालों की ट्रेनिंग से पैदा होता है। इसका एक स्पष्टीकरण यह हो सकता है कि मीडिया ने अपने व्यापक प्रसार माध्यम से संगठन का अभाव दूर कर दिया। मीडिया नेवही दिखाया जो घटित हो रहा था। इतना ही काफी था।

इस आंदोलन ने अनेक स्थापित मान्यताओं को तोड़ दिया है। वह चाहे आंदोलन की रही हो या प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था की हो। इसने हर धारा पर मारक चोट की है। जनलोकपाल के एजेंडे ने हमारी राजनीतिक दृष्टि के अनेक उलझाव को उजागर किया है। बताया है कि हमारा राजनीतिक तौर-तरीका नकली है और बेमेल है। क्या

यह मानना सही होगा कि लोग क्षुब्ध थे और वही इन बारह दिनों में प्रकट हुआ। ऐसी धारणा में नकारात्मकता है। इस नजरिए से यह आंदोलन संभावनाएं कम प्रकट करता है और खतरे ज्यादा। एक सवाल इस आंदोलन पर यह भी है कि इसमें कोई विचारधारा नहीं है। विचार के तत्व से यह रहित है। इसका यह नुकसान होगा कि सरकार भी शायद इससे अपना बजूद बचाने में सफल हो जाएगी। ऐसा जो लोग मानते हैं वे पिछले आंदोलनों के संदर्भ में इसे देख रहे हैं। यह क्यों न समझा जाए कि इस आंदोलन की यह एक नवीनता है और यही इसका अनोखापन है।

आंदोलनों के अनुभव वाले अनेक बौद्धिक इन दिनों बुझौअल में फंसे हुए हैं। उनके लिए अन्ना कायह आंदोलन अनेक पहलियों की परत-दर-परत कहानी है। एक को हल करते हैं तो दूसरी आकर उनके सामने प्रश्न की मुद्रा में खड़ी हो जाती है। पहली पहली उनके लिए यह है कि सिविल सोसाइटी में अन्ना हजारे कहाँ फिट होते हैं। वे सामाजिक सुधार के अपने क्षेत्र में प्रणेता माने जा सकते हैं। भ्रष्टाचार के खिलाफ उनकी लड़ाई उसी श्रेणी में आती है। लेकिन जो सिविल सोसाइटी है वह तो इसमें कहीं आती नहीं है। यह बेमेल गठबंधन कैसे हुआ। सिविल राइट के आंदोलन का वास्ता समाज से था। लेकिन सिविल सोसाइटी का संबंध समाज से कहाँ उस तरह का जैविक बन पाया है जैसा कि बनना चाहिए। फिर यह आंदोलन उतनी जबरदस्त जैविक ताकत से कैसे प्रकट हो गया। क्या भारत में सिविल सोसाइटी की परंपरा रही है? अगर नहीं तो यह कहां से आयातित है।

जिस सिविल सोसाइटी का उदय हुआ है वह अपने निशाने पर संविधान से निर्मित सर्वोच्च सत्ता को चुनौती दे रही है। उसमें प्रधानमंत्री हैं। संसद है। न्यायपालिका है और क्या नहीं है। इसी कड़ी में उन बौद्धिकों के लिए बड़ी पहली यह भी है कि इस सिविल सोसाइटी के समाने सरकार ने कैसे घुटने टेक दिए। ये कौन हैं जो सरकार के बराबर खड़े हो गए हैं। इससे भी ऊंची बात यह है कि इस सिविल सोसाइटी के कर्ताधर्ता अपने को राजनीतिक प्रणाली से बाहर मानते हैं। वे दावा करते हैं कि हम देखेंगे कि यह राजनीतिक व्यवस्था प्रणाली भ्रष्ट न हो जाएं। बेहतर होगा कि इन पहलियों को यथार्थ से जोड़ा जाए। उससे जो नतीजे सीधे निकलते हैं उन्हें ग्रहण कर इस आंदोलन के अर्थ को समझने और समझाने का प्रयास हो।

जिसे खुली आंखों देखा जा सकता है वह यह है कि यूपीए शासन में एक के बाद दूसरे लगातार महाघोटाले हो रहे हैं। प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह की ईमानदारी भी मिथक साबित हुई है। उनपर भी गंभीर आरोप लगे हैं। कम से कम यह कि उनकी जानकारी में ये महाघोटाले हुए हैं। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर आतंकवाद से लड़ने के क्रम में अमेरिका ने पाया कि स्विस बैंक में उसके यहां का काला धन जमा है जो आतंकवादियों के काम आता है। उसने स्विस बैंक को मजबूर कर दिया कि वह जानकारी दे। इसी दौरान यह बात खुली कि भारत का भी कई लाख करोड़ रुपए वहां जमा है। इसपर

स्वामी रामदेव ने देश भर में अथक जागरण किया। अन्ना हजारे ने अप्रैल में अनशन कर जनलोकपाल की माँग उठाई। दो महीने बाद रामदेव ने भ्रष्टाचार और काले धन पर सरकार कार्रवाई करे, इसके लिए रामलीला मैदान में अनशन शुरू किया। इन दोनों से जो खतरा सरकार देखने लगी उससे निपटने की उसने पुरानी शैली अपनाई। अन्ना हजारे की टीम को बातों में बहलाया और रामदेव को पुलिसिया डंडे से डराया।

इसे पूरे देश ने क्षोभ और पीड़ा से देखा। अन्ना हजारे ने जब देखा कि साझा मसौदा समिति को सरकार विफल कर रही है। उसका इरादा वक्त काटने का है तब उन्होंने पूर्व घोषित आमरण अनशन पर जाने का बीड़ा उठाया। उनके इस संकल्प में लोगों ने अपनी शक्ति लगा दी। यही वह यथार्थ है जिसे समझने की जरूरत है। इस आंदोलन पर राजनीतिक दलों का रवैया सरकार से ज्यादा भिन्न नहीं था। वे अपने लिए भी इस आंदोलन को खतरनाक मानने लगे हैं। दूसरी तरफ आंदोलन का साफ संदेश जो था उसे वे टालते रहे। संदेश यह है कि वह दिन गुजर गया जब राजनीतिक दल इस संसदीय व्यवस्था में एकाधिकारके स्वामी थे। उन्हें अपना अहंकार छोड़ना होगा। इस आंदोलन ने यह कर दिखाया है।

सत्ता का अहंकार जल्दी नहीं पिघलता। आंदोलन की आंच उसे पिघलाती है। मनमोहन सिंह की सरकार चाहती और ईमानदारी से प्रयास करती तो अन्ना हजारे को बारह दिनों तक अनशन करते रहने की जरूरत नहीं पड़ती। यह एक संयोग है कि बुढ़ैती में भी उनका शरीर इसको झेल ले गया। कांग्रेस और इस सरकार को अगर आजादी की आंदोलन का इस तरह का प्रसंग याद रहता तो वे उतनी ही जल्दी करते जितनी तत्परता से 1932 में यरबदा जेल में आमरण अनशन पर बैठे महात्मा गांधी के प्राण की रक्षा के लिए उस समय समाज के नेताओं ने की थी। ब्रिटिश सरकार हिंदू समाज को हमेशा के लिए बाँटना चाहती थी। इसी इरादे से प्रधानमंत्री रैम्से मैकडॉनाल्ड ने सांप्रदायिक निर्णय की घोषणा हाउस ऑफ कॉमन्स में की थी। उसे महात्मा गांधी ने सबसे पहले भाँपा और अपने इरादे की सूचना सरकार को दी कि वे उसे अपने प्राण की बाजी लगाकर रोकेंगे। सरकार के नकरात्मक रवैए पर उन्होंने आमरण अनशन करने का फैसला किया। 20 सितंबर 1932 को वे जेल में अनशन पर बैठ गए। उनकी सेहत बिगड़ने लगी। पंडित मदनमोहन मालवीय, तेजबहादुर सप्रू, सी. राजगोपालाचारी, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की पहल पर एम.सी. राजा और डॉ. भीमराव आंबेडकर से वार्ता हुई। दलित नेताओं के सहयोग से एक फार्मूला निकला। वही 'पूना पैक्ट' कहलाता है, जिसे अंग्रेज सरकार ने भी मान लिया। उसी आधार पर महात्मा गांधी ने 26 सितंबर को अपना अनशन तोड़ा। वैसी ही तत्परता मनमोहन सिंह की सरकार ने क्यों नहीं दिखाई?

सच तो यह है कि कांग्रेस और सरकार का एक खेमा लगातार अड़ंगेबाजी कर रहा था। वह तो भारतीय जनता पार्टी के फैसले से पासा पलटा। विपक्ष की नेता

सुषमा स्वराज ने जब अन्ना हजारे की तीनोंमांगों का पूरा समर्थन कर दिया तब सरकार के लिए कोई दूसरा चारा नहीं बचा था। प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने जो पहल की और संसद में आश्वासन दिया उसे राहुल गांधी पलटने पर अमादा थे। उनका बयान बेतुका था। उसमें से षड्यंत्र की बू आ रही थी। इस तरह के दौंव-पेंच के कारण अन्ना हजारे के प्राण को लोग खतरे में देखने लगे थे। देश में बेचैनी बढ़ रही थी। उसका ही दवाब था कि संसद ने 27 अगस्त को आखिरकार वह फैसला किया जिससे आंदोलन का यह चरण पूरा हो सका।

जिस तरह का जन उफान था उससे क्या संभावनाएं प्रकट होती हैं? जो लोग यह सवाल उठा रहे थे कि इसमें दलित नहीं है, अल्पसंख्यक नहीं है, वे असल में अपनी मनोदशा को प्रकट कर रहे थे। उनकी मनोदशा औपनिवेशिकता में पली है। इस तरह के सवाल अलवत्ता वे ही लोग उठाते हैं जो कटे हुए हैं। इस आंदोलन का मूल प्रश्न नया है और वह यह है कि क्या इससे स्वस्थ राजनीति निकलेगी? इससे ही जुड़ा हुआ है कि स्वस्थ राजनीति क्या है? सीधी-सी बात है कि जो सिर्फ सत्ता की राजनीति न हो और जन- राजनीति जिसमें हो वही स्वस्थ राजनीति है। यह सवाल इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि अन्ना हजारे का आंदोलन एक अराजनीतिक समूह के हाथ में है। यह आंदोलन सघन और व्यापक है। इससे स्वस्थ राजनीति पैदा हो सकती है अगर इसके लिए सही तरीके से प्रयास किए जाएं।

स्वस्थ राजनीति के मापदंड क्या होंगे? यह शाश्वत सवाल है और हमेशा से बना हुआ है। आजादी से पहले भी यह बहस का विषय था और आज भी है। लड़ाई के दौरान जब कांग्रेस में आदर्शवाद था तब यह बहस विचार और आदर्श से प्रेरित होकर चलती थी। अनेक अवधारणाएं स्वस्थ राजनीति के सामने आईं। उसपर अमल करने का जब अवसर आया तो कांग्रेस के नेतृत्व ने सत्ता राजनीति को अपना लिया। उससे सत्ता की एक अंधी दौड़ शुरू हुई। सत्ताधारी दल ही राजनीतिक संस्कृति को जन्म देता है। दूसरे दल उसका अनुसरण करते हैं। अपनी मौलिकता वे अनुसरण में खोते जाते हैं। यही क्रम चला है जिसके परिणामस्वरूप किसी भी दल में मौलिक अंतर नहीं बचा। सिर्फ मात्र का अंतर ही बचा हुआ है। अन्ना हजारे का आंदोलन जनलोकपाल के जरिए भ्रष्टाचार के शोषण से समाज को मुक्ति दिलाने का आश्वासन है। यही इस आंदोलन का प्राण है।

सत्ता की राजनीति शोषण पर टिकी होती है। शोषण का ही संबंध भ्रष्टाचार से होता है। जिस मात्र में भ्रष्टाचार कम होगा उसी मात्र में सेवा की भावना प्रबल होगी। जिस दिन राजनीति सत्ता की पटरी से सेवा पर आएगी उसी दिन स्वस्थ राजनीति शुरू होगी। तब समाज खुद में होने से तृप्त होगा। उसे शासन और सत्ता पर हर क्षण के लिए निर्भर नहीं रहना होगा। क्या इस आंदोलन के अगले चरण में यह संभावना है? एक बात इस आंदोलन के चरित्र के बारे में कही जा सकती है कि इसमें

जो लोग सम्मिलित हुए और अहिंसक संघर्ष का संकल्प दिखाया वे परंपरागत अर्थों में राजनीतिक नहीं, अराजनीतिक थे। यह घटित हो गया है। उसका ही एक परिणाम है कि इस आंदोलन में वर्ग और वर्ण का भेद नहीं रहा। जो यह भेद करते रहे हैं वे मूलतः अलोकतांत्रिक होते हैं। यह आंदोलन भारत की लोकतांत्रिकता का विस्तार है। लोकतंत्र हर व्यक्ति को बराबर का मान देता है। हर व्यक्ति को समान अवसर और मूल्य देता है। ऐसे लोकतंत्र में वंश और मां-बाप के आधार पर अधिकार नहीं होते। धन से छोटे-बड़े का फैंसला नहीं होता। पद यह तय नहीं करता कि कौन बड़ा है और कौन मातहत है। हमारे संसदीय लोकतंत्र ने वंश और धन के ही आधार पर खुद को संवारा है। ज्यादा सही होगा यह कहना कि अपना चेहरा बिगाड़ा है। इस संसदीय लोकतंत्र की आधारशिलाएं अलोकतांत्रिक हैं। इसमें दलीय तानाशाही का बोलबाला है। यह आंदोलन बिना कहे इस व्यवस्था को चुनौती दे रहा है। क्या चुनौती देना ही काफी है?

इस अराजनीतिक आंदोलन में गहरी राजनीति के बीज छिपे हुए हैं। उन्हें पहचानने की जरूरत है। तभी उसे पलने का अवसर मिल सकेगा। अन्ना की टोली पर यह जवाबदेही आई है। वह चाहे तो पिछले आंदोलनों की विफलताओं से सबक लेकर इसे संसदीय राजनीति के परनाले में गिरने से बचा सकती है। इतना तो पक्के तौर पर कहा जा सकता है कि अन्ना हजारों इसका पूरा ख्याल रखेंगे। लेकिन उनकी टोली क्या करेगी? यह भविष्य बताएगा। वे लोग अगर छोटे राजनीतिक स्वार्थ में पड़े तो इस आंदोलन को दलीय राजनीति के दलदल में पड़ने से कोई रोक नहीं सकेगा। अगर इसका लोभ संवरण कर लिया तो जहां जाकर जेपी आंदोलन अंतिम सांस ले बैठा यह वहीं से शुरू कर सकता है। उससे जो आंदोलन बढ़ेगा वह इस राजनीति को बदलने का जरिया बन सकता है।

इस आंदोलन ने एक सांस्कृतिक और राजनीतिक क्रांति कर दिखाई है। देशभक्ति और राष्ट्रीयता को पुनः जनजीवन में उतार दिया है। अगर अन्ना हजारों की टीम बिना आंदोलन के जनलोकपाल पर समझौता करा लेती तो उससे वह प्रभाव पैदा नहीं होता जो आज महसूस किया जा रहा है। जिस भावनात्मक उफान और वैचारिक मंथन से संसद और सरकार को अपना हठ छोड़ना पड़ा उसका पूरे जनमानस पर गहरा प्रभाव पड़ा है। जरूरत उसे परिणामकारी बनाने की है। इस आंदोलन ने उस आस्था को बल दिया है जिससे परिवर्तन संभव होता है। अगर यह आंदोलन विभिन्न चरणों में अपनी मंजिल पाने तक चलता रहा तो यह व्यवस्था परिवर्तन के लक्ष्य को पा सकेगा। इस समय कुछ भी कहा नहीं जा सकता कि यह होगा या नहीं। इतना अवश्य हो सकता है कि इस आंदोलन के प्रभाव में एक बड़ा समुदाय नैतिक बनने का संकल्प ले और भ्रष्टाचार पर अंकुश लगे। उम्मीद करनी चाहिए कि जो नई पीढ़ी इस आंदोलन में कूदी है वह लंबे संघर्ष में बनी रहेगी।

अन्ना का आंदोलन और नई संभावनाएं

पवन कुमार गुप्त*

पिछले कुछ वर्षों से मैं यह मानने लगा था कि विकास और उदारीकरण के इस दौर में लोगों में राजनैतिक और सामाजिक सरोकार समाप्त प्राय हो गया है, कि लोग संकुचित हो गये हैं और कोई बड़ी बात इस देश में अब किसी और तरह से हो तो हो, पर जन आंदोलन से शायद ही होगी। लोग उसके लिए तैयार नहीं हैं। मैं गलत था। अन्ना के आंदोलन ने वह कर दिखाया है। जिसकी उम्मीद शायद ही किसी को रही हो।

पिछले अप्रैल से जो देश में हो रहा है, और खासकर 16 अगस्त से जिस प्रकार आम आदमी अन्ना के साथ जुड़ा है। उसे हमारी सरकार और बुद्धिजीवी वर्ग ने समझा नहीं है। सरकार तो वैसे भी धीरे धीरे इस उदारीकरण के दौर में और उसके नशे में, जनता से पूरी तरह कट गई है। वह समझ भी नहीं सकती क्योंकि उसमें वह कूवत या काबिलियत ही नहीं रह गई है, साधारण आदमी की बात समझने की। सरकार और उसको चलाने वालों को देखने और सुनने से ही यह बात साफ हो जाती है। 24 अगस्त जब अन्ना की हालत लगातार बिगड़ती जा रही थी तब प्रधानमंत्री के घर दावत उड़ रही थी जिसमें सभी सांसद मौजूद थे। उनके चेहरे पर कोई चिंता या फिक्र या दुख नहीं झलक रहा था। आज की केंद्रीय सरकार के मंत्रियों में से अधिकांश ने शायद ही कभी हवाई जहाज छोड़ कर रेल से यात्रा की होगी और की भी होगी तो साधारण बिना ए.सी. वाले तीसरे (अब दूसरे) दर्जे का तो दरवाजा भी नहीं देखा होगा और न कभी 5 सितारा वातावरण को छोड़ कर 24 घंटे से ज्यादा रहे होंगे। राहुल गांधी बेचारे बड़ा परीश्रम कर रहे हैं। पर बड़ी मुश्किल होती है। पिछले दिनों उत्तर बिहार के अररिया जिले का दौरा किया तो वापसी में राजधानी एक्सप्रेस से वापस आए पर उनकी सेवा में जो बुलेट-प्रूफ गाड़ियाँ दिल्ली से हवाई जहाज से गई थीं वे

* पवन कुमार गुप्त, अध्यक्ष 'सिद्ध', हेजलवुड लंदौर कैंट, मसूरी-248179; मो. 09760049414; ई-मेल : pawansidh@gmail.com

हवाई जहाज से वापस लायी गई। इन नेताओं के घर भी अब 5 सितारा जैसे ही हो गए हैं। बहुत सारे मंत्री, खासकर जो वकालत करते रहे हैं, उन्होंने तो किसी गाँव में 24 घंटे से ज्यादा बिताए भी नहीं होंगे। प्रधान मंत्री जी की स्थिति और इनकी सरगना सोनिया जी की स्थिति भी ऐसी ही है। यह हाल अब सिर्फ कांग्रेस वालों का हो ऐसा नहीं। यह रोग अब प्रायः हर राजनैतिक दल में घुस गया हैकम या ज्यादा, मुलायम सिंह, लालू यादव या मायावती किसी जमाने में साधारण माहौल में जरूर रहते थे। उनसे भी अब किसी तरह की तकलीफ बर्दाश्त नहीं होती। आजादी के बाद नेताओं और जनता के बीच दूरी लगातार बढ़ी है। पर 90 के दशक से उदारीकरण के बाद से इसकी रफ्तार बहुत तेज हुई है। पहले जिसे करने में शर्म या संकोच होता था अब वह धीरे धीरे बेहिचक होने लगा है। चाहे वह कपड़ों और रहन-सहन और भाषा का मामला हो या बे-ईमानी का। इसके साथ साथ अहंकार भी चरम सीमा को लौंघ गया है। बड़के राजनेताओं, मीडिया में ऊंची नौकरी पाने वालों में और नए अरबपतियों में भी यह साफ झलकता है। जमीन से कटे हुए लोगों के हाथ में राजनैतिक पार्टियों और सरकार की कमान है। चाहे वे प्रधानमंत्री हों, कपिल सिब्बल हों, चिदम्बरम हों या बड़ी समस्या में जब जब सरकार फँसती हैं, तो उसे बाहर निकालने वाले, अपने को बड़ा अनुभवी और श्रेष्ठ बुद्धिजीवी समझने वाले, प्रणव मुखर्जी हों। इनमें से कोई भी जमीन से जुड़ा नहीं है। विपक्ष के नेताओं का भी यही हाल है। 67 तक इस देश में विपक्षी दलों के नेताओं को सत्ता का मीठा स्वाद नहीं लगा था। पर अब कोई सत्ता के स्वाद से महरूम नहीं रह गया है।

संसद में भयंकर अहंकारी हुंकार भरने वाले लालू और शरद यादव को बार-बार याद दिलाना पड़ा, शायद अपने को भी याद दिलाने के लिए, कि वे जमीनी और गाँव के लोग हैं। ये बातें पुरानी हो गई हैं। जिस प्रकार किसी को विदेशी डिग्री या पैसे का गुमान होता है उसी प्रकार इनको अपने (किसी जमाने) में गाँव का होने का गुमान है। हमारा राजनैतिक नेतृत्व आम लोगों से इतना दूर हो गया है कि उन्हें अन्ना का आंदोलन समझ ही नहीं आ रहा। पर इनकी बात छोड़िए हमारे तथाकथित गांधीवादी और अपने को जरा प्रगतिशील और बुद्धिजीवी मानने वाला वर्ग भी इस आंदोलन का विरोध ही करता प्रतीत होता है। दलीलें अलग अलग हैं। पर इस वर्ग से बहुत थोड़े से लोग ही आंदोलन के साथ खुल कर आये हैं। इनके अलग अलग तर्क हैं। किसी को अराजकता की चिंता सत्ता रही है। कोई इस बात से खफा है, और शायद इसमें ईर्ष्या का भी कुछ हद तक अंश है, कि यह कौन आ गया जिसने इतने बड़े आंदोलन को खड़ा कर दिया। लोग जिसकी तुलना महात्मा गांधी और जयप्रकाश जी से करने लगे हैं; तो कभी आंदोलन को मीडिया का करिश्मा और कभी आंदोलन को मध्यम-वर्गी और शहरी बता कर, कभी अन्ना को इन दो महान विभूतियों से छोटा बता कर अपने निक्कमपेन को ठीक ठहराते हैं। अन्ना ने जो बात उठाई है, उससे

कोई भी बड़ा राजनेता, वह चाहे किसी भी दल का हो, डरता है। उसके अहम को चोट पहुँचती है और उसकी सत्ता कमजोर होती है। उसे डह भी होती है कि इस सोए हुए देश में आज के जमाने में एक ऐसा आंदोलन छेड़ा जा सकता बिना किसी दलगत सहयोग और संगठन के। राजनैतिक दलों और तथाकथित 'अकटीविस्टो' को भी अन्ना के जन समर्थन से ईर्ष्या ही हो रही है। आखिर जयप्रकाश जी के आंदोलन के बाद पिछले कई दशकों में इस प्रकार का जन समर्थन कभी कोई खड़ा नहीं कर पाया।

अन्ना कोई बड़े राजनैतिक नेता नहीं रहे हैं। उनके पास न महात्मा गांधी जैसा इतिहास है और न ही जयप्रकाश जी जैसा। वे लोग, जो जनता की भावना का प्रतिनितित्व करने का दावा करते हैं और जो जनता के समर्थन के बल पर अपने सत्ता में होने की दुहाई देते हैं, उन्हें निश्चित तौर पर, इस आम आदमी को जनता से मिला अभूतपूर्व समर्थन गाल पर तमाचे जैसा लगा होगा। उनकी बोलती बंद है। उन्हें समझ नहीं आ रहा कि वे अन्ना का समर्थन करें या सरकार का इस लोकपाल से जुड़े दांव-पेंच में साथ दें।

यह लिखा जा रहा है कि महात्मा गांधी जब भी अनशन पर बैठे सिर्फ आत्म शुद्धि के लिए। यह गलत है। यहाँ सिर्फ एक उदाहरण देना काफी होगा। 17 मार्च 1918 को अहमदाबाद में मिल मजदूरों की लंबे समय से चल रही हड़ताल के पक्ष में जिस दिन वे अनशन पर बैठे उस दिन उनके दिये भाषण को इन अखबारों में लिखने वालों को पढ़ लेना चाहिए। यह अनशन साफ तौर पर मिल मालिकों पर दबाव बनाने के लिए महात्मा गांधी ने किया था, आत्म शुद्धि के लिए नहीं। वे इस भाषण में अपने अनशन पर जाने के बारे में कहते हैं, "मैंने इन दस हजार लोगों (मिल मजदूरों) को पतन से बचाने के लिए यह कदम उठाया है। 10 हजार मजदूर अपनी प्रतिज्ञा तोड़ देते तो इससे इस देश की अधोगति हो जाती। मजदूरों का सवाल तो फिर कभी उठाया ही नहीं जा सकता। बस मैंने यह प्रतिज्ञा ले ली। आगे वे यह भी कहते हैं कि, "मैं यह समझता हूँ कि मेरी प्रतिज्ञा दोषपूर्ण है। यह संभव है कि इस प्रतिज्ञा के कारण मिल मालिक मुझ पर दया करके मजदूरों को 35 प्रतिशत वृद्धि दे दें। मेरी इच्छा तो यही है कि वे दयाभाव से कुछ भी नहीं दें। फिर भी उसका स्वाभाविक परिणाम वही होगा और उस हद तक यह प्रतिज्ञा मेरे लिए लज्जाजनक ही है। अन्ना ने भी क्या इस देश के 120 करोड़ लोगों को पतन से बचाने के लिए यह कदम नहीं उठाया है, भले ही अनशन दोषपूर्ण हो। लोगों की पीड़ा को इस गुरूर में पड़े शासक वर्ग को सुनाने और बाध्य करने का अब और क्या तरीका बचा है। इसका जवाब इस देश की जनता ही दे सकती है और अन्ना दे सकते हैं। कभी कानून की दुहाई दी जाती है। कभी कहा जा रहा है कि कानून बनाने से क्या होगा।

महात्मा गांधी को हमारे शासक वर्ग ने नहीं पढ़ा है, समझने की बात तो बहुत दूर है। वे सिर्फ पूजा की निर्जीव वस्तु से ज्यादा हमारे शासक वर्ग के लिए नहीं रह

गए हैं। महात्मा गांधी ने बार बार 'गैर-कानूनी' और 'अवैधानिक' में भेद किया है। विधान को कानून से बड़ा मानते हैं महात्मा। इस बात को न सिर्फ सरकार में बैठे हुए लोग बल्कि अखबारों में लिखने वाले अधिकतर बुद्धिजीवी (खासकर अंग्रेजी में बोलने और लिखने वाले) और कानून पर बोलने वाले लोग भी भूल रहे हैं।

अन्ना ने कहा था कि इस देश को 4-6 लोग चला रहे हैं यह बात सभी को स्पष्ट हो रही है। अभी तक जो नाटक चल रहा है उससे सिर्फ एक अच्छी बात यह हो रही है कि इस शासक वर्ग के असली चेहरे लोगों के सामने साफ हो रहे हैं। पर शासक वर्ग सत्ता के नशे में चूर है। यह नशा गहरा है, जल्दी दूटेगा भी नहीं। हमारे उन बुद्धिजीवियों को जिनको पश्चिम से शाबाशी चाहिए, जो वहाँ की लिबरल विचार से ओत-प्रोत हैं या होने का नाटक करते हैं, उन्हें अन्ना, गांधी नहीं लगते, जयप्रकाश नहीं लगते, उन्हें रामलीला में राष्ट्रीय झंडों से भी चिढ़ है, किसी को इसमें मध्यम वर्ग के शामिल होने से चिढ़ है, इत्यादि, इत्यादि। उन्हें जनता की आवाज सुनाई नहीं पड़ रही। यह बात निश्चित है कि ये लोग यदि महात्मा के जमाने में होते तो उनका भी विरोध कर रहे होते, खुले-खुले या दबे-दबे। अन्ना न गांधी हैं न जयप्रकाश, उन्होंने कभी इसका दावा भी नहीं किया, पर उसी परंपरा के वे जरूर हैं।

इस आंदोलन की एक बड़ी उपलब्धि यह भी है कि इन 13 दिनों कि जद्दोजहद में राजनेताओं और राजनैतिक दलों का असली चेहरा और उनकी नीयत लोगों के सामने स्पष्ट रूप से बाहर आ गई है। कोई नहीं बचा। लोगों ने आँखों देख लिया कि सत्ता का दुरुपयोग कैसे होता है, नियम कानून के जंजाल में कैसे फँसाया जा सकता है; चेहरे, आँखों और शरीर की भाषा से कैसे झूठ पकड़ा जाता है, शब्द कुछ भी बोलें जाएँ।

जयप्रकाश जी बड़े आदमी थे। राजनीति से सन्यास लेने के वर्षों बाद वे बाहर निकले और सभी विपक्षी दलों को साथ कर पाये। आरएसएस और जनसंघ, जिनसे कुछ विपक्षी दल उन दिनों भी उतना ही चिढ़ते थे जितना आज, उन सबको साथ लेकर वे चल पाये। तुलना, पहले तो होनी ही नहीं चाहिए। तुलना की सीरत में ही खोट होता है। पर तुलना कर के किसी को छोटा या बड़ा दिखाना ठीक नहीं। फिर भी, अन्ना के आंदोलन से जयप्रकाश जी के आंदोलन की तुलना करने वालों को दो महत्वपूर्ण फर्क पर भी ध्यान देना चाहिए। जयप्रकाश जी के आंदोलन में लगभग सभी विपक्षी दलों ने जी-जान से सहयोग दिया था; अन्ना के आंदोलन में, मन से और शरीर से भी, किसी भी राजनैतिक दल ने सहयोग नहीं दिया। जयप्रकाश जी के न चाहते हुए भी उस आंदोलन में वे हिंसा को वे रोक नहीं पाये। यह आंदोलन पूरी तरह अहिंसक रहा है। ये दोनों बड़े भेद हैं।

इसे सिविल सोसाइटी का आंदोलन कहने की भूल भी नहीं करनी चाहिए, यह अब जन आंदोलन है। मीडिया को अपनी भाषा बदलनी चाहिए। जन आंदोलन को

सिविल सोसाइटी का नाम नहीं देना चाहिए, न ही जन सैलाब को हुजूम कहना चाहिए। हुजूम तो फिल्मी कलाकारों या भाड़े से बुलाये गए लोगों का होता है। इस आंदोलन में जो सैलाब उमड़ा है; वे लोग एक सुंदर और देश भक्ति की भावना से प्रेरित हो कर आए हैं। यह न तो भीड़ है, न हुजूम।

अन्ना, गांधी नहीं हैं, वे दावा भी नहीं करते। वे तो अपने को एक समान्य कार्यकर्ता ही कहते हैं और वे ऐसा कोई बनावटी विनम्रता के चलते नहीं कह रहे। और कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे जैसा हो भी नहीं सकता। पर अन्ना को महात्मा से प्रेरणा मिलती है, इसमें किसी को क्या ऐतराज हो सकता है। जनता, शायद महात्मा गांधी को बिना पढ़े, उनकी संसदीय प्रणाली के बारे में तकरीबन सौ साल पहले कही बात (वेश्या और बाँझ) से इत्तेफाक रखने लगी है। जनता का अपने तथाकथित जन प्रतिनिधियों पर से विश्वास उठ गया है। कहीं न कहीं राजनैतिक दलों के नेताओं को जनता की इस भावना का भास-आभास जरूर है। नहीं तो आज विपक्षी दलों के नेता भी अन्ना के साथ जेल जाते। पर वे डरे हुए हैं क्योंकि यह गुस्सा सिर्फ कांग्रेस के खिलाफ नहीं, इस व्यवस्था के खिलाफ है, जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं और जिसका वे लाभ उठाते हैं। संसद में अन्ना का मामला उठा पर किसी भी सांसद ने कोई आत्म-निरीक्षण करने की बात नहीं कही कि शायद कहीं उनसे गलती हुई है, किसी ने भी जनता की पीड़ा को समझने का प्रयास नहीं किया, अपने काम करने के तरीकों में गलती भी उन्होंने नहीं देखने की चेष्टा की। किसी ने महात्मा को याद नहीं किया कि महात्मा का संसदीय प्रणाली पर कितना विश्वास था, कि महात्मा, कानून को ही सर्वोपरि नहीं मानते थे। किसी को शायद याद भी नहीं कि वे कानून और विधान के बीच भेद करते थे। विधान की और अंतर-आत्मा की आवाज सुनते थे और उसे अहमियत देते थे, कानून से उसे कहीं ऊँचा आँकते थे। यह भी याद नहीं कि इस देश का कानून बनाने में महात्मा की कोई भूमिका नहीं थी। और हमारा कानून कितनी जल्दबाजी में बना उसकी बैठकों में कितने सदस्यों ने कितनी बार हिस्सा लिया इसे ठीक से देखने की जरूरत है। हमारा कानून बहुत हद तक दूसरे देशों, खासकर इंग्लैंड के कानून की नकल पर जल्दबाजी में बना, इसे समझ लेना चाहिए। समय कम था, लोग व्यस्त थे, बहुत सारे सदस्य तो थोड़ा सा समय भी नहीं दे पाये इसलिए शायद ऐसा करना मजबूरी रही हो, उस समय। पर हर समय कानून की दुहाई देने से अब काम नहीं चलेगा। संसद को लोगों की सुननी पड़ेगी, और अगर इस आवाज में कानून में तब्दीली की मांग सुनाई पड़े तो वैसा होना चाहिए, यह संसद की जिम्मेदारी बनती है।

कई बार कानून और कानून के रखवाले कितने निरंकुश हो जाते हैं, इसे इतिहास पर थोड़ा भी नजर डालने से साफ हो जाता है। क्या स्वतंत्र भारत में महात्मा गांधी कानून व्यवस्था को नहीं तोड़ते, इस बात की गारंटी यह सरकार दे सकती है?

जयप्रकाश जी ने तोड़ा अभी हाल में ही, लोहिया ने कई बार तोड़ा। कानून भी आखिर लोगो के लिए ही बनता है, लोग कानून से हॉकने के लिए नहीं बने हैं। अगर ऐसा न होता तो कानूनों में तब्दीलियां क्यों लायी जाती? उसे क्यों बदला जाता? मंत्रियों के बयानो से तो ऐसा लगता है और संभवतः अधिकांश संसद सदस्य इन मंत्रियों से इस बात पर सहमत होंगे कि संसद सर्वोपरी है कि जैसे वे कोई विशिष्ट वर्ग के हैं, जैसे वे जनता के नुमाइंदे, उनके नौकर न हो कर उनके मालिक बन बैठे हैं।

संसद और न्यायालय में फर्क होता है। न्यायालय कानून से बँधे होते, कानून के अनुसार सिर्फ फैसला कर सकते हैं। फैसले और न्याय में बड़ा फर्क है। न्याय बड़ी ऊँची चीज है, फैसलों में भावना का कोई स्थान नहीं, संवेदना का कोई स्थान नहीं होता। न्यायालय, जहाँ फैसले होते हैं, वह लगभग यांत्रिक व्यवस्था है। संसद में संवेदना होनी जरूरी है, सांसदों में जनता की पीड़ा, कुंठा और चाहना को समझने की कृत्व आवश्यक है। संसद नियम और कानून से वैसे बँधे नहीं, जैसे नयायाधीश की कुर्सी पर बैठे लोग। सांसदों से दूसरी तरह की अपेक्षा होती है। उन्होंने बार.बार और इस बार पूरे सदन ने, अपनी संवेदन-हीनता दिखा कर, देश को निराश किया।

यह सभी को समझ आ जाना चाहिए की अन्ना की लड़ाई देश के आम लोगों की वर्तमान व्यवस्था से कुंठा, सरकार और उसके नुमाइन्दो की मनमानी, सत्ता के दुरुप्रयोग के प्रति भयंकर गुस्से और इस व्यवस्था के आगे बेबसी का इजहार है। और यह भी समझ आना चाहिए कि अन्ना के आम समर्थको में वैसे लोग भी होंगे जिन्होंने जाने-अनजाने और अधिकतर मजबूरी में (कानून की नजर में) भ्रष्टाचार में हिस्सा लिया होगा। महात्मा गांधी के साथ भी जो लोग थे वे सभी, पाक-साफ नहीं थे, पर फिर भी उनमें पीड़ा रही होगी भ्रष्टाचार के खिलाफ, शोषण के खिलाफ। बहुधा व्यवस्था, आम आदमी को कमजोर बना कर उसे बाध्य भी करती है, भ्रष्ट होने को। यह व्यवस्था ही ऐसी है कि आम आदमी को मजबूर बनाती है, चापलूसी करने को, घूस देने को, तिकड़मबाजी करने को, सिफारिश करवाने को, बिजली के लिए, गैस सिलिंडर के लिए, पानी के लिए, पेंशन पाने के लिए, अपना 'पीएफ' निकालने के लिए, स्कूल में प्रवेश के लिए। लालच और शोषण करने के लिए किया गया भ्रष्टाचार और मजबूरी में किए गए, व्यवस्था की पेचीदगी और जकड़न से उबरने के लिए किए गए भ्रष्टाचार के बीच बड़ा फर्क है, भले ही कानून की नजर में दोनों एक हों। कलमाड़ी, राजा और येदुररूपूया या अन्य मंत्रियों के भ्रष्टाचार, बड़े उद्योगपतियों और अफसरों का भ्रष्ट आचरण और आम आदमी द्वारा मजबूरी में किए गए भ्रष्टाचार के बीच जमीन आसमान का फर्क है। इसके प्रति सभी को, खासकर हमारे कानून बनाने वालों को, संवेदनशील होने की आवश्यकता है।

अन्ना और लोकपाल भी, सिर्फ निमित्त मात्र हैं, जो लोगों के मन में है पर वे उसे ठीक से व्यक्त नहीं कर पाते। महात्मा गांधी से सुशीला नय्यर ने पूछा था कि

आपने ऐसा क्या किया कि भारत के गिरे-पड़े लोग उठ खड़े हुए? तो महात्मा गांधी का जवाब था कि यही कि जो बात भारत के साधारण लोगो के मन में थी, पर उसे व्यक्त नहीं कर पाते थे, उस बात को उन्होंने व्यक्त कर दिया। अन्ना ने भी वही किया है और इस आंदोलन की सबसे महत्वपूर्ण बात और उपलब्धि यही है। यह बात सभी राजनैतिक दलों के नेताओं, मीडिया और बुद्धिजीवियों को ठीक से समझ आनी चाहिए। मुद्दा अन्ना या उनकी टीम या रामदेव का भी नहीं हैं। मुद्दा दम-घोंटू व्यवस्था का है। व्यवस्था, जिसमें अन्ना जैसा आदमी को भी भ्रष्ट कहा जा सकता है और नियम कानून के जंजाल और पेचीदगी में उन्हें संभवतः भ्रष्ट साबित भी किया जा सकता है, अगर सरकार कमर कस ले तो। सरकार तो वह चीज है कि किसी को भी बदनाम कर दे, फँसा दे और भ्रष्ट से भ्रष्ट को खुला छोड़ दे। इतिहास में ऐसा पहले भी हुआ है और आज तो हमारे नेता और मंत्रीगण उस पीढ़ी के भी नहीं रहे, जहाँ शर्म, अदब और शालीनता जैसी चीजे सामान्य व्यवहार में जगह रखती थीं। इसका प्रमाण ताजा-ताजा हमने 27 अगस्त को देख ही लिया।

हमारे अधिकतर बुद्धिजीवी और अफसरान तो कृपाचार्य और द्रोण की परंपरा के हैं, जैसे हमारे 'ईमानदार' प्रधानमंत्री धृतराष्ट्र की परंपरा के हैं और मंत्री दुर्योधन और दुःशासन कि परंपरा के। हमारे बुद्धिजीवियों को यह चिंता सता रही है कि लोकपाल से क्या हो जायगा या यह कि अन्ना का रास्ता संसदीय प्रणाली का हनन है, कि यह कहीं अलग तरह की तानाशाही तो नहीं। उनको यह नहीं दिख रहा है कि इसके पीछे की भावना क्या है और सरकार की मंशा क्या है? मेरा पक्का मानना है कि ये लोग अगर महात्मा गांधी के जमाने में होते तो उनके कामों में भी ये मीन-मेख निकालते और दूर खड़े होते, अब वे नहीं रहे तो उनकी दुहाई देते हैं। उस समय दांडी यात्रा के समय भी, उनके अपने लोगों को और सरकार, दोनों को उनकी यह बात समझ नहीं आई थी। आज इन्हे अन्ना का आंदोलन और उस आंदोलन में जन-लोकपाल, जो मात्र निमित्त है, समझ नहीं आ रहा।

लोगों का सरकार और व्यवस्था से भरोसा डगमगा गया है और प्रधानमंत्री और उनके सहयोगियों के जो बयान आ रहे हैं उससे उनकी शंका और पुष्ट होती जाती है कि सरकार इस मामले में गंभीर नहीं है, सिर्फ कानूनी पेचीदगी में मुद्दे को डाल कर मामले को उलझाती जाती है।

जनता हर समय नहीं उठती। इस समय उठ खड़ी हुई है। कभी कभी कोई छोटी घटना या परिस्थिति भी बड़ी बात को जन्म देती है। ट्यूनीसिया में ऐसा ही तो हुआ। अन्ना और लोकपाल निमित्त हैं। लोकपाल से भ्रष्टाचार खत्म हो जाएगा ऐसा तो वे भी नहीं मानते। वे व्यवस्था परिवर्तन की बात कर रहे हैं और वह महत्वपूर्ण है। वे गाँव सभा को वह स्थान दिलवाना चाहते हैं, जो गांधी जी करना चाहते थे। गाँव सभा का महत्व संसद से ज्यादा हो।

हमारे उन लोगों को, जिनको देश की चिंता है लोकपाल से आगे बढ़ कर सत्ता में जनता की हिस्सेदारी बढ़ाने के प्रस्ताव रखने चाहिए। जनता को अधिकार हो कि वे अपने केंद्र की संसद और प्रदेश कि विधान सभाओं, जिला और ग्राम पंचायत में भेजे प्रतिनिधियों को, अगले चुनाव से पहले, वापस बुला सकें। जिन लोगों पर गंभीर किस्म के मुकद्दमे चल रहे हों (बलात्कार, कत्ल, बड़े घपले, फिरौती, इत्यादि के) वे चुनाव नहीं लड़ सकें। जांच अर्जेसियों पर सरकारों की दखलंदाजी खत्म हो। वे अपना काम करने को स्वतंत्र हों। कानून व्यवस्था का पुनर्मूल्यांकन हो, उसे सरल और सहज बनाया जाय। पुलिस के व्यवहार की आचार संहिता बने कि वे आम आदमी से कैसे व्यवहार करें। पुणे में किसानों पर जिस तरह गोली चलाई गई उस तरह कि घटनाओं पर जल्द और कठोर कारवाही हो। पुणे में जो कुछ हुआ गंभीर है साथ ही हास्यास्पद भी। गंभीर इसलिए कि जिस प्रकार किसानों पर चुन चुन कर गोलियां चलायी गई और जिस प्रकार किसानों के पानी को उनसे बिना पूछे कही और ले जया गया और हास्यास्पद इसलिए कि जिस दल की सरकार ने यह धिनौने काम किए उसी दल के युवा नेता फिर जाकर किसानों से झूठी हमदर्दी जताते हैं। इस तरह के ढोंग से लोग अब तंग आ गए हैं। अन्ना इस पीड़ा और कुंठा के प्रति विरोध का प्रतीक बन गए हैं।

अन्ना ने सोये पड़े देश में एक बार फिर जान फूँकी है, यह अहम बात है। उन्होंने सार्थक परिवर्तन के लिए जमीन तैयार कर दी है। अब नए लोगों को सामने आना होगा। कुछ नए लोग आए भी हैं और उन्होंने मजबूती, हिम्मत और समझदारी का प्रदर्शन भी किया है, इस आंदोलन के दौरान। गांधी जी को कुछ लोग अप्रासंगिक कहने लगे थे, उन्हें दिखा दिया है कि महात्मा हर समय प्रासंगिक हैं। गांधी टोपी और खद्वर जो हमारे नेताओं के चलते बदनाम हो चली थी, उसे फिर सम्मान दिलाया है। अहिंसा का रास्ता कितना कारगर हो सकता है, खासकर भारत जैसे देश में, यह अन्ना ने कर दिखाया है। यह देश में निश्चित तौर पर जान फूँकेगा।

अन्ना को सिर्फ सरकार से ही नहीं, अन्य दलों से भी सावधान रहने की जरूरत है। कोई भी बड़ा नेता उनके साथ नहीं है, यह बात उन्हें साफ होनी चाहिए। कोई दूसरे दल की सरकार भी इस समय होती तो स्थिति बहुत बेहतर नहीं होती। उनकी लड़ाई इस सड़ी-गली व्यवस्था से है, जिसके हिस्से वे सब हैं और सभी उसका लाभ उठा रहे हैं, इसलिए उनका अन्ना के साथ होना मुमकिन नहीं।

आज इस स्थिति में क्या होगा इसे सोच पाना मुश्किल है। पर यह मुमकिन है कि कांग्रेस सरकार में नए चेहरे ले आए, राहुल गांधी को उसमें अहम भूमिका दी जाय और फिर यह नई चेहरे वाली सरकार अन्ना के साथ बातचीत नए सिरे से शुरू करने का प्रयास या नाटक करे। इस हालात में यह लड़ाई आगे कैसे चलेगी, यह गंभीर मुद्दा है।

हमारे देश में टांग खींचने की आदत पुरानी है। जब माहौल ठंडा होता है, तो लोग कुछ करने की बात करते हैं और जब माहौल गरम होता है तो हम मीन-मेख निकालने लगते हैं। आज की जरूरत है कि गांधीवादी और बुद्धिजीवी वर्ग, जो सचमुच इस देश के हित में सोचता है और जो यह जानता है कि इस व्यवस्था से जनता त्रस्त है, उसे इस आंदोलन से जुड़ना चाहिए, छोटे मोटे मतभेद के बावजूद। बाहर खड़े हो कर तमाशा देखने का वक्त अब नहीं है।

दुनिया और देश को एक नई प्रकार की राजनीति, एक अलग तरह की लोकशाही की जरूरत पिछले कुछ दशकों से लग रही हैं, उसकी संभावना इस आंदोलन में है। इस लोकतन्त्र ने अपना काम पूरा कर दिया, अब इसमें जान बची। इसमें निहित विरोधाभास समय के साथ साथ और ज्यादा पनप रहे हैं, और उजागर भी हो रहे हैं। एक नई तरह की लोकशाही के बारे में गंभीरता से प्रयोग करने का वक्त आ गया है, जमीन भी तैयार हो गई है। जरूरी नहीं की वह बदलाव आ ही जाएगा परंतु संभावना बनी है। प्रयोग करने के लिए जमीन तैयार है। यह प्रयोग सफल हो या नहीं, कहा नहीं जा सकता परंतु इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि यह एक महत्वपूर्ण घटना घटी है, कई दृष्टियों से। आंदोलन ने एक नई पीढ़ी के लोगों को सामने आने का मौका भी दिया है, और उन्होंने इसके प्रमाण दिये हैं कि वे एक मजबूत और ईमानदार नेतृत्व की क्षमता रखते हैं। जिस प्रकार के असीम अंदरूनी और बाहरी दवाब में सरकार की पैतरेबाजी को उन्होंने समझदारी और मजबूती से इस आंदोलन को संभाला है वह आशा देता है।

गाँधीजी की अंतर्दृष्टि*

धर्मपाल

(धर्मपाल जी 9 जून, 2000 को राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के निमंत्रण पर उनके प्रमुख कार्यकर्ताओं को संबोधित करने नागपुर गए थे। धर्मपाल जी पहले कुछ पशोपेश में थे लेकिन बाद में उन्होंने नागपुर जाने का निर्णय ले लिया। वे पहले से कुछ लिख कर ले गए थे परंतु बोलते वक्त लिखा हुआ भाषण नहीं पढ़ा और कुछ अन्य विषयों पर भी बोल गए। कोशिश की गई कि सिर्फ बोले हुए को ही नहीं, वरन लिखे हुए भाषण में से भी संबोधित अंशों को जोड़ कर इस लेख को प्रस्तुत किया जाएसंपादक)

मैंने यहाँ आने से पहले सोचा कि कुछ लिख लेना चाहिए। इसलिए मैं सुदर्शन जी के दो-तीन महीने पहले दिए गए उद्बोधन को पढ़ने लगा। उसमें उन्होंने गाँधीजी और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के संस्थापक श्री हैडगेवार जी के बीच हुई एक वार्ता का उल्लेख किया था। वह वार्ता खिलाफत आंदोलन के संदर्भ में थी। सन् 1920 के करीब से, खिलाफत के प्रश्न को लेकर, एक मुसलमानी आंदोलन इस देश में चला। उसमें गाँधीजी ने मुसलमानों का साथ दिया और इसके चलते कुछ मुसलमान गाँधीजी के साथ आए भी। लेकिन बाद में यह आंदोलन अपने आप गिर गया क्योंकि जिस बात को लेकर यह आंदोलन शुरू हुआ था, वह बात ही समाप्त हो गई। क्योंकि बात तो यहाँ की नहीं थी, तुर्की की थी।

हैडगेवार जी जैसे बहुत-से लोगों, जो उनकी तरह पूर्ण रूप से स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़े हुए थे, के मन में इन बातों को लेकर प्रश्न उठे होंगे। उनको लगा होगा कि इससे देश का नुकसान होने की संभावना है। गाँधीजी से जो वार्ता हुई, उससे हैडगेवार जी की शंका नहीं मिटी। शायद मिटनी आसान भी नहीं थी। गाँधीजी के सामने तो बहुत सारे प्रश्न आते होंगे। गाँधीजी के लिए खिलाफत के प्रश्न को भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में प्राथमिकता देना शायद बहुत कारणों से रहा होगा।

* धर्मपाल जी ने यह लेख फरवरी, 1982 में लिखा था। महात्मा गाँधी, एक पुनरावलोकन; संपादक : पवन कुमार गुप्त, प्रकाशक : सिद्ध, मसूरी के सौजन्य से।

उनमें से एक कारण भारत में मुसलमानों के माने जाने वाले नेताओं, जिनमें अधिकांश बाहर से आए हुए मुसलमानों के वंशज ही थे और जो खिलाफत आन्दोलन के समय अपने को तुर्क, ईरानी व अफगानी मानते थे, को स्वतंत्रता संग्राम से पूरी तरह जोड़ने का दिखता है। परंतु हैडगेवार जी और उनके मित्रों का गाँधीजी की बात से समाधान नहीं हुआ और काफी विचार करने के उपरांत उन्होंने 1925 में 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ' की स्थापना की।

मेरा अपना खयाल है कि गाँधीजी ने जब यह सुना होगा तो वह कुछ झुंझलाए भी होंगे, कुछ गुस्सा भी हुए होंगे, पर ऐसा नहीं कि कुल मिलाकर उन्हें अच्छा नहीं लगा होगा। उन्हें अच्छा भी लगा होगा, क्योंकि उन्हें इसमें कुछ साहस और वीरता दिखाई दी होगी; कोई कुछ तो कर रहा है न! कुछ भी न करना तो सबसे खराब बात हैयह उनका मानना था। वह तो अहिंसक थे, अहिंसा की बात करते थे लेकिन कुछ करो ही नहीं तो उससे अच्छा हिंसा ही कर लो। लेकिन छुट-पुट हिंसा मत करो, करनी हो तो बड़ी हिंसा करो। अहिंसक ढंग से जीत सकते हो तो जीतो लेकिन यह नहीं कि अहिंसक ढंग से नहीं जीत सकते तो हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ गएउनका मत नहीं था। इसलिए जो लोग उनके खिलाफ या विपरीत रास्तों पर भी चलते होंगे लेकिन कुछ-न-कुछ करते होंगेमेरा मानना है, महात्मा गाँधी को वे लोग अच्छे ही लगते होंगे।

गाँधीजी ने जो किया, बड़ा काम किया। इस देश को समझा। मेरा तो अपना खयाल यह है कि उनके जैसा आदमी हजार-दो हजार वर्ष में, हमारे देश में, राजनीति और समाज के क्षेत्र में नहीं हुआ है। अध्यात्म के क्षेत्र की बात मैं नहीं कर रहा। अध्यात्म के क्षेत्र में तो हमारे यहाँ बहुत से लोग हुए होंगे और उनमें से कुछ गाँधीजी से ऊँचे भी रहे होंगे। वैसे भी, गाँधीजी ने कभी यह दावा भी नहीं किया कि अध्यात्म के क्षेत्र में उनका कोई बड़ा अधिकार है। हालाँकि वह मोक्ष आदि की बात अवश्य करते हैं, लेकिन इस देश और समाज की समझ और विदेशी लोगों की समझ, उनकी व्यवस्थाओं, उनकी कूटनीति की समझ गाँधीजी से ज्यादा, मुझे नहीं लगता, किसी और में रही है। मुझे नहीं लगता जवाहरलाल नेहरू इन चीजों को ज्यादा समझते थे। नेहरू तो पश्चिम वालों की कूटनीति को भी नहीं समझते थे। वे तो अपने को पश्चिम वालों का संबंधी मानते थे। उनकी पहले की और बाद की तमाम बातों से ऐसा ही निष्कर्ष निकलता है। खेर, जवाहरलाल जी जैसे दो-चार लाख लोग तो हमारे यहाँ रहे ही होंगे। वे अकेले नहीं थे।

गाँधीजी ने समाज और राजनीति के क्षेत्र में क्या-क्या किया, यह तो आप लोगों के समझने की बात है। मैं तो सुदर्शन जी से दरखास्त करूँगा कि गाँधीजी को समझा जाए और उनका विश्लेषण किया जाए। इस समाज और देश को उनकी क्या देन है? इसका समय आ गया है। उनको गए 52-53 वर्ष हो गए हैं। यह तो बहुत अधिक समय हो गया है। यूरोप और अमरीका में तो 10 वर्ष बाद ही पोस्टमार्टम होने लगता है। तो हमें भी कुछ करना चाहिए। उसमें से कुछ निकलेगा और बड़ी चीज निकलेगी।

गाँधीजी ने 1920 तक कांग्रेस को, एक नया विचार व संविधान देकर, उसे अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के 35 वर्ष पुराने जमघट से निकाल कर, देश के साधारण लोगों के आंदोलन का रूप दे दिया। लेकिन जैसा कि हमेशा होता है, मनुष्य जो कुछ भी बनाता है वह अधूरा ही रहता है। उसके बने से, तत्काल कुछ काम तो हो जाते हैं, लेकिन काफी काम अधूरे भी रह जाते हैं। यही गाँधीजी के द्वारा बनाए रास्तों, व्यवस्थाओं, संस्थाओं इत्यादि के साथ भी हुआ, ऐसा कहा जा सकता है। उनकी बनाई कांग्रेस ने 20-25 वर्ष देश के लिए बहुत कुछ किया। देश के जन-साधारण में उत्साह उत्पन्न हुआ, साहस जागृत हुआ और काफी निडरता आई।

उनके विचारों के असर में अनगिनत नारियाँ, शायद कई शताब्दियों के बाद, फिर से सामाजिक जीवन में वापस आईं। वैसे गाँधीजी ने बड़ा काम तो दक्षिण अफ्रीका में ही कर दिया था। वहाँ पचास हजार के करीब हिंदुस्तानी थे, उनको प्रोत्साहित किया। साथ ही उन्होंने स्त्रियों को प्रोत्साहित किया, उनके घरों में गए, दो-चार हजार स्त्रियों से बातें भी कीं। मजदूर स्त्रियों के घर जा कर बातें कीं। यह काम उन्होंने भारत आकर भी किया और यहाँ उनमें से बहुत-सी स्त्रियाँ आगे भी निकलीं। सभी उनके बताए रास्ते पर चलीं, यह सवाल नहीं है। सवाल यह है कि वे आगे बढ़ गईं। आगे बढ़कर वे क्या करती हैं, ये उनके ऊपर निर्भर करता है, क्योंकि किसी का काम तो तय नहीं किया जा सकता। और अगर आज आप उसको तय कर भी दें तो आने वाली पीढ़ी उसको करेगी या नहीं, यह निश्चित नहीं किया जा सकता।

अस्पृश्यों एवं अंत्यजों के लिए स्वामी दयानंद कुछ बातें किया करते थे, दूसरे लोग भी किया करते थे लेकिन भारत में छुआछूत की जो पद्धति चल रही थी, वह मुख्यतः गाँधीजी के प्रयासों से ही हलकी पड़ी। गाँधीजी ने अस्पृश्यों के लिए, जो लग कर काम किए, वह इसलिए संभव हुए कि वे इस स्थिति में पहुँच गए थे कि कुछ काम कर सकते थे। अस्पृश्यता हटाने में अनेकों का हाथ रहा लेकिन गाँधीजी ने इसे लेकर जो-जो काम किया, उससे अस्पृश्य समाज के रास्ते खुल गए और अपना रास्ता तय करना उनके लिए आसान हो गया। 1925-35 के जमाने में तो वही हिंदुस्तान के राजा थे। अंग्रेज तो नाम के राजा थे, असली राजा तो महात्मा गाँधी ही थे। उन्होंने अस्पृश्यों के पक्ष में अनेक फैसले करवाए, जो हो सकता है उनको अधिक पसंद न आए हों, और वे बाद में गाँधीजी से नाराज भी हुए हों, लेकिन उनके लिए जो रास्ते खुलवाने थे वे महात्मा गाँधी ने खुलवा ही दिए। उन रास्तों के खुलने के बाद फिर डॉ. अंबेडकर जैसे लोग भी बड़ा काम कर सके और अन्य लोग भी कर सके। आजकल श्री कांशीराम कर रहे हैं। और भी कर रहे होंगे। मुझे नहीं मालूम। आज बहुत से अस्पृश्य कहे जाने वाले वर्ग हैं, उनके इंटरनेट सेंटर होंगे, उनका पश्चिमीकरण भी हो रहा होगा, ईसाईकरण भी हो रहा होगा। आप लोग भी उनके साथ मिलकर कुछ काम तो करते होंगे। दलित शब्द ही हमें 1920 के करीब अंग्रेजों से मिला है। अंग्रेजों ने जिन-जिन समूहों एवं जातियों को दलित कहा, उनमें से अधिक तो कभी भी भारतीय

समाज के लिए अंत्यज व अस्पृश्य नहीं थीं। इस बार मैंने कुछ दस्तावेज देखे हैं, खासतौर पर दक्षिण के दस्तावेज। मेरी अपनी समझ में भारत में व्यापक अस्पृश्यता पिछले 200-300 वर्षों से ही रही है। मनुस्मृति इत्यादि में अवश्य कहा गया है कि जो अपने वर्ण से गिर जाता है, वह अंत में अस्पृश्य बनता है। महाभारत में अश्वत्थामा को भी, पांडवों के बच्चों की हत्या के बाद, शायद ऐसे ही अस्पृश्य माना गया। वैसे पुराणों में दिए गए भृगु-भारद्वाज संवाद इत्यादि से लगता है कि वर्णों के आपसी संबंधों के बारे में भारत में भिन्न-भिन्न विचार हमेशा ही रहे हैं।

दक्षिण में 1700 से लेकर 1750 ई. के समय में अस्पृश्य करके कोई खास समूह नहीं हैं। परंतु ये लोग अंग्रेजों द्वारा मारे जा रहे हैं, घटाए जा रहे हैं। जिन्हें आज दलित कहा जाता है वे तो उस समय सेनानी लोग हैं। गाँव की अपनी पुलिस है और ये लोग पुलिस का काम करते हैं। स्थानीय सेना में ये लोग हैं। पुलिस का काम पेरियार करते हैं, चर्मकार करते हैं। ये अपने को बहादुर सिपाही कहते हैं। ये ग्रामों और नगरों में लोगों की जमीन के झगड़ों को निपटाने का काम भी करते हैं जमीन मापने, अनाज मापने इत्यादि का काम ये लोग करते हैं। 1770 ई. का एक दस्तावेज है जिसको वारेन हेस्टिंग्स ने मद्रास से कलकत्ता वापस जाने से पहले तैयार करवाया था, उसमें ये आज दलित कहे जाने वाले लोग कह रहे हैं कि “वी ऑर ग्रेट सोल्जर्स, वी आल्सो मेक सैंडल्स।” तो उनकी तो अपनी एक आत्मछवि, एक ‘सेल्फ इमेज’ है। ये ‘सेल्फ इमेज’ बड़ी चीज है। अब होता यह होगा कि ब्राह्मण उनके बारे में कुछ और कहता होगा, लेकिन ब्राह्मण उनके बारे में क्या कहता है, उससे तो काम नहीं चलता न! महत्त्वपूर्ण यह है कि वे अपने को क्या मानते हैं। ये जो आज गिरी हुई जातियाँ कही जाती हैं, उनकी उस समय ‘सेल्फ इमेज’ तो बहुत ऊँची दिखती है।

आंध्र प्रदेश में एक जिला है आदिलाबाद। वहाँ ‘कला आश्रम’ नाम का एक आश्रम है जिसे रविंद्र शर्मा नाम के व्यक्ति चलाते हैं। उन्होंने ‘फाइन आर्ट्स’ से बी. ए. वगैरह किया है। वे वहीं के रहने वाले हैं और आदिलाबाद क्षेत्र की 50-52 जातियों की बात करते हैं। 5-6 वर्ष पहले वह मेरे पास आए थे। बातचीत में उन्होंने बताया कि ये जो जातियाँ हैं इनकी सबकी अपनी-अपनी कथाएँ हैं। इनका अपना संगीत है, संगीत के अपने ‘इंस्ट्र्यूमेंट्स’ हैं। इन जातियों से संबंधित हजारों हजार तस्वीरें हैं, कपड़ों पर बनी हुई, जिनमें इनकी पूरी कथा कही गई है। लेकिन उन्होंने कहा कि ये भिक्षावृत्ति के लोग हैं। इस पर मैंने पूछा कि भिक्षावृत्ति के किस प्रकार से हैं? तो उन्होंने कहा कि कहीं-न-कहीं से तो कुछ लेंगे न? इसलिए अपने लोगों से लेते हैं। तो जैसे अपने यहाँ पुराने समय में भाट वगैरह हुआ करते थे, ये कुछ उसी तरह के लोग हैं। उसके बाद रविंद्र शर्मा एक जाति से संबंधित कुछ चित्र आदि लाए और मुझे दिखाया। इन तस्वीरों में तो मुझे ये लोग राजाओं जैसे दिखे। ऐसा नहीं था कि कोई भिखमंगा या गिरा हुआ दिखता हो। उन्होंने इस जाति की कहानी बताई कि ये लोग यह मानते हैं कि ये महाभारत में उल्लिखित राजा नहुष की संतान हैं। उनसे कभी कोई

गलती हो गई तो वे थोड़ा गिर गए। फिर जब जंगल में पांडव आए तो पांडवों ने इन लोगों से कहा कि किसी को बतलाना नहीं कि हम यहाँ आए हैं। उस समय द्रौपदी उनके साथ नहीं थीं। बाद में जब द्रौपदी आई तो इन लोगों ने द्रौपदी को पांडवों का पता नहीं बताया। परंतु द्रौपदी ने पांडवों को देख लिया और इन्हें श्राप दे दिया। तो ये लोग थोड़ा दुखी हो गए। पर कुल मिलाकर वे सुखी और समृद्ध ही चित्रित हैं।

इस तरह अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों को भी अपने बारे में मान्यताएँ कुछ उपरोक्त प्रकार की हैं। ये मान्यताएँ सही हैं या नहीं, इतिहास में बैठती हैं या नहीं, यह अलग प्रश्न है। इन सब पर तो काम होना चाहिए। हमारे इतिहासकारों को सोचना चाहिए। अब ग्रीक मिथकों में जो कुछ मिलता है, उससे तो यह सब खराब नहीं है; सुंदर ही है। आज हमारे विद्यालयों में ग्रीक मिथकों को तो माना जा सकता है, उसे पढ़ाया जा सकता है, उस पर बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ मिलती हैं, बड़े-बड़े स्कॉलर बनते हैं। तो इन पर क्यों नहीं बनते? क्यों नहीं डिग्रियाँ मिलती? मिलनी चाहिए थीं। कुछ काम होना चाहिए। और इस तरह की बातें हिंदुस्तान के हर जिले में मिल जाएँगी, ऐसा मुझे लगता है। इन सब पर काम होना चाहिए।

आज हिंदुस्तान में हमारी अपने बारे में जो तस्वीर बनी है, वह बहुत हद तक अंग्रेजों द्वारा बनाई गई है। ऐसा नहीं है कि यह कोई साजिश वगैरह के तहत किया गया हो। उन्हें राज करना था तो कुछ तो इस तरह करना ही पड़ा होगा, परंतु एक और भी कारण रहा है। उनका अपना संसार जिस प्रकार चलता था, उसी से उनकी दृष्टि बनी थी और वे हमेशा उसी दृष्टि से देखते भी थे। इसलिए हमारे लिए जरूरी है कि हम यूरोप को समझें। इससे हमें समझ में आ सकता है कि आज हमारी अपने समाज के बारे में जो तस्वीर बनी है, वह ऐसी क्यों बनी है।

अंग्रेजों ने जब भारत पर 1750 से अपना प्रभुत्व जमाना आरंभ किया, तब से भारत में अस्पृश्यता की भावना बढ़ी, और अधिक-से-अधिक लोगों को अस्पृश्य माना जाने लगा। तभी से अंग्रेजों ने भारत की स्मृतियों में से अपनी मान्यता और काम के उद्धारण लेने आरंभ किए और हमें बतलाने लगे कि यही आपके शास्त्रों ने कहा है। शुरू के दिनों में यहाँ जब उनके पाँव जमने लगे, उन्होंने बाकी शास्त्रों का अंग्रेजी में अनुवाद कराना बंद करके मनुस्मृति का अनुवाद जारी रखा। हमारा उनसे 200-250 वर्षों का संपर्क होते हुए भी, हमारे अधिक पश्चिमीकृत लोगों को भी, यूरोप व इंग्लैंड की पुरानी सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्था के बारे में अधिक जानकारी नहीं है। 1900 ई. तक तो इंग्लैंड में ऊँच-नीच की धारणा व्यापक थी। इंग्लैंड के 90 प्रतिशत लोग 'लोअर ऑर्डर' (निम्न वर्ग) में माने जाते थे, जैसे कि हमारे यहाँ अधिकांश लोग पिछले 200 वर्षों में पिछड़ी व अस्पृश्य जातियों के माने जाने लगे।

दलित कहे जाने वालों की बात जब मैं सोच रहा था तो मुझे लगा कि अंग्रेज भारत में कुछ ऐसा नहीं कर रहे थे जो वे अपने देश में नहीं करते थे। 1900 तक तो इंग्लैंड में यह भावना व्याप्त है कि 'लोअर आर्डर' को तो गरीब ही रहना चाहिए।

सबके पास पूरा हो जाएगा तो दान किसे देंगे और ईसाई होने का तो मतलब है कि दान दें। वहाँ इस तरह की मान्यताएँ हैं। इंग्लैंड के आँकड़े हमें देखने चाहिए मूल्यपूर्ण हैं।

भारतवासियों की तो यह मान्यता रही है कि हमेशा से, यानी की बहुत प्राचीन काल से श्री रामचंद्रजी के काल के पहले से भारत के वासी रहे हैं। शताब्दियों से इंग्लैंड व यूरोप में ऐसी कोई मान्यता नहीं है। आज से एक हजार वर्ष पहले तक तो यूरोप के अधिकांश क्षेत्रों में यूरोप के बाहर से और यूरोप के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र पर आक्रमण होते रहे। वहाँ पहले से बसे लोगों को अधिकांशतः समाप्त कर दिया जाता था, या जो बचे रह जाते थे उनको दास बना लिया जाता था। इंग्लैंड में बाहर का अंतिम आक्रमण उत्तर यूरोप के नॉरमन लोगों का हुआ। उन्होंने 1066 ई. के करीब इंग्लैंड पर विजय प्राप्त की और 25-30 वर्षों में ही वहाँ की पूरी राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था बदल डाली। इसका परिणाम यह हुआ कि इंग्लैंड में पहले से बसे लोग दासत्व की स्थिति में पहुँच गए। उनसे जमीन इत्यादि सभी कुछ छीन लिया गया और 50,000 के करीब जो नॉरमन वहाँ आकर बसे उन्होंने वहाँ के 95 प्रतिशत साधनोंजमीन, वन, खानों इत्यादिको अपना मान लिया और केवल 5 प्रतिशत साधनों को वहाँ के पुराने 10 लाख वासियों के पास छोड़ा। इस बदलाव को ही स्थायी करने के लिए जो व्यवस्थाएँ बनाई गई, उन्हीं को अंग्रेज 'रूल ऑफ लॉ' का आरंभ कहते हैं। कमोबेश कुछ ऐसा ही कार्य अंग्रेजों ने जहाँ-जहाँ वे आक्रमणकारी और विजयी रहे वहाँ कियाचहे वह उत्तरी अमेरिका हों, अफ्रीका के देश हों, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड हो, या भारत और भारत के आसपास के देश हों। जो व्यवस्था व राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक तंत्र भारत में पिछले 200 वर्षों में बना है, वह इसी अंग्रेजी तथाकथित 'रूल ऑफ लॉ' की देन है। जो नॉरमन लोगों ने इंग्लैंड में किया, वही अंग्रेजों ने दूसरे देशों में किया, जहाँ वे विजयी रहे।

इंग्लैंड में मतदान से संबंधित सन् 1832 के आँकड़ों के अनुसार कुल एडल्ट पॉपुलेशन (शायद 22 वर्ष की आयु के ऊपर के) में 7 प्रतिशत पुरुषों को ही मत देने का अधिकार था। यह मानना कि पहले से ही सभी को मतदान का अधिकार चला आ रहा होगा, गलत है। अंग्रेज कभी ऐसा कहते भी नहीं हैं पर क्योंकि अंग्रेज अपनी पुरानी बातें ज्यादा नहीं करते, इसलिए हमें वहम हो जाता है। इसके अलावा इंग्लैंड में स्त्रियों को वोटिंग का अधिकार तो 1918 में ही मिला, उससे पहले तो इंग्लैंड में स्त्रियों को वोटिंग का अधिकार है ही नहीं। सभी पुरुषों को भी वोटिंग का अधिकार नहीं था। 1880 ई. तक भी कुल एडल्ट पापुलेशन में मात्र 20-25 प्रतिशत पुरुषों को वोटिंग का अधिकार रहा होगा। तो इस तरह का उनका समाज रहा है।

इसलिए इंग्लैंड की आज की शासन-व्यवस्थाएँ, कानून, साधारण लोगों का जमीन व दूसरे साधनों पर अधिकार न होना, इत्यादि 1066 ई. के बाद से वहाँ नॉरमन आक्रमणकारियों के विजयी होने पर बनीं। इन 900-1000 बरसों में कुछ-कुछ

साधारण बदलाव अवश्य आए, लेकिन मुख्यतः जो 1066 ई. के बाद स्थापित हुआ, जो मान्यताएँ बनीं, वे आज भी इंग्लैंड के तंत्र का व वहाँ लोगों के आपसी रिश्तों का आधार हैं। 1800 के समय में तो इन्हीं के आधार पर इंग्लैंड व ब्रिटेन का राज्य व समाज चलता था। 5 प्रतिशत लोग नागरिक थे, 95 प्रतिशत नहीं। अंग्रेज यहाँ, भारत में शुरू के दिनों में, जो समाज बना रहे थे, वह इंग्लैंड से नीचे का ही समाज बना रहे थे। 1780-1790 ई. के दौरान यह सवाल उठता है कि हिंदुस्तान के किसानों के हक क्या हैं? तो इसके लिए उन्होंने पुराने हिंदुस्तान का अनुसंधान किया, तो खोज में उन्हें 14वीं सदी से संबंधित, अलाउद्दीन खिलजी का कोई दस्तावेज मिला। उसमें खिलजी अपने सलाहकारों से पूछता है कि ये जो गैर-मुस्लिम प्रजा है, उनके हक क्या हैं? तो उसे बतलाया गया कि उनका संपत्ति में तो कोई हक नहीं है। फिर पूछा गया कि उनका प्रोडक्शन (उत्पादन) में कितना हक है तो कहा गया कि यदि बादशाह आधा उत्पादन ले लेता है तो कोई गलत नहीं करता।

और किस्सा यह भी है कि 1750 ई. और 1800 ई. के करीब, यूरोप के अलग-अलग देशों में किसानों से 50-80 प्रतिशत तक उत्पादन ले लिया जाता था। इंग्लैंड में 1792 ई. के आँकड़ों के अनुसार खेती में काम करने वाले को तो कुल उत्पादन का मात्र 20 प्रतिशत ही मिलता था। तो उन लोगों ने मनुष्य को क्या माना है इसका अंदाजा इससे लगता है। उसी समय तो अंग्रेजों द्वारा बंगाल में जमींदार बनाए गए। लोगों ने और कुछ अंग्रेज अफसरों ने कहा कि जब हम यहाँ आए थे उस समय तो यहाँ किसानों को उनकी जमीनों से निकाला नहीं जा सकता था। इस पर अंग्रेजों ने कहा कि यह सही है लेकिन फिर भी हमें तो निकालना पड़ेगा। यदि ऐसा नहीं होता तो जमींदारों को हमें जो कर (टैक्स) इकट्ठा करके देना है, वह वे कैसे देंगे? फिर यह भी तर्क दिया कि इंग्लैंड का जमींदार अपनी सरकार को कुल उपज के 10 प्रतिशत से ज्यादा कर नहीं देता, फिर भी उसे खेतिहर को निकाल देने का अधिकार है और यहाँ भारत के जमींदार को कुल उपज का 50 प्रतिशत से भी ज्यादा अंग्रेजों को देना पड़ता है, तो यदि जमींदार किसानों से कर वसूल नहीं कर पाएँगे तो देंगे कहाँ से? इस पर ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स की कमेटी ने यह फैसला किया कि भारत के किसानों का हक इंग्लैंड के किसानों के हक से बड़ा नहीं हो सकता।

इसके पहले के जमाने में जाएँ तो पता चलता है कि औरंगजेब के हिसाब से जहाँगीर को, साम्राज्य के कुल कर का 5 प्रतिशत के करीबजो करीब 60 लाख रुपए वार्षिक बैठता थाही मिलता था। शाहजहाँ के समय में कुछ बरसों के लिए यह शायद 5 प्रतिशत से बढ़कर 10 प्रतिशत तक पहुँच गया। औरंगजेब ने उसे और बढ़ाया लेकिन इतनी सब कश्मकश के बादजिसके कारण उसके सूबेदार, राज्यकर्ता और प्रजा बहुत असंतुष्ट एवं उसके विरुद्ध हुएउसका जो कर का भाग पहुँच पाया, वह कभी भी कुल कर के 20 प्रतिशत से अधिक नहीं रहा। शेष हिस्से (80 से 95 प्रतिशत) का क्या होता था, इस संदर्भ में हम बहुत अधिक नहीं जानते। एक

आधुनिक राजनीतिक मान्यता के अनुसार यह सब सामंतों और सामंती व्यवस्था में चला जाता था। मेरी जानकारी में इतिहासकारों ने इस पर कोई विशेष काम नहीं किया है।

1770-1780 के बंगाल में अंग्रेजों द्वारा कर के विषय में किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार अधिकांश जिलों में खेती के आधे के करीब उपजाऊ जमीन से सरकार को कोई भी कर नहीं दिया जाता था, बल्कि ऐसी जमीनों का कर बहुत प्राचीन समय से ही, वहाँ के स्थानीय आधारभूत ढाँचे के रखखाव पर खर्च होता था। बंगाल के एक जिले में (शायद वर्दवान में) 1780 में ऐसे व्यक्तियों व प्रतिष्ठानों की संख्या जो ऐसे कर पर अपना पुराना अधिकार मानते थे, पचास हजार से ऊपर थी। यही स्थिति दक्षिण भारत में भी पाई जाती है। ऐसा लगता है कि, जहाँ-तहाँ से कर प्राप्त होता था, वहाँ-वहाँ कर का एक बड़ा भाग स्थानीय कार्यों के लिए रख लिया जाता था। इनमें सिंचाई, हिसाब-किताब, सुरक्षा, मंदिर, मठ, धर्मशालाएँ, क्षेत्रम, शिक्षा, चिकित्सा के अतिरिक्त लोहार, बढ़ई, धोबी, नाई, ज्योतिष, पुलिस और 10-20 अन्य लोगों को मिलने वाले खर्चे होते थे। यह कुल मिलाकर खेती की उपज का 25 से 30 प्रतिशत होता था। कर का शेष भाग ऊपर के स्तरों पर जाता था और अंत में बचा भाग स्थानीय राजा-महाराजा को व दिल्ली के बादशाह को। बंगाल के मंदिरों, मठों, ब्राह्मणों इत्यादि जिनकी ऐसे उत्पादनों व करों में भागीदारी थी, उनकी 1770-1780 में संख्या बंगाल की मस्जिदों, मजारों इत्यादि से 9-10 गुना ज्यादा थी। इससे लगता है कि मंदिर, मठ इत्यादि ऐसे भागीदार इस्लाम के समय से पहले से ही चले आ रहे थे। इस्लामिक राज्य उसे विशेष बदल नहीं पाया, केवल उसमें से मजारों, मस्जिदों को भी कुछ दिया जाने लगा।

व्यवस्थाएँ राजनीति से जुड़ी होती हैं। राज्य और समाज जब मिलकर चलता है तभी चल पाता है। व्यवस्थाएँ यहाँ अंग्रेजों से पहले भी टूटी हैं। मुझे ऐसा लगता है कि 1700 ई. के करीब शिवाजी के कारण तथा अन्य तमाम कारणों से जब औरंगजेब का शासन गिर पड़ा, तो महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, बंगाल के कुछ हिस्सों में, उत्तर प्रदेश, (दक्षिण में तो सवाल पैदा नहीं होता क्योंकि दक्षिण में तो मुसलमानों का कभी कुछ बड़ा प्रभाव हुआ ही नहीं) आदि स्थानों पर लोग खड़े होने लगे। नए राज्य खड़े होने लगे, कुछ नया बनने लगा, लेकिन हिंदुस्तानी चाल से धीमे-धीमे। इसके करीब 50 वर्षों के बाद से बाहर का हमला शुरू हो गया। 1744 के करीब अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच दक्षिण में लड़ाई शुरू हो जाती है। इस लड़ाई में अंग्रेज अर्काट के नवाब को भी उलझा लेते हैं। और फिर बूढ़ा नवाब मर जाता है। तो दो दावेदार आगे आते हैं। एक पुराने नवाब का दामाद है जबकि दूसरा उसका पोता है। पहले वाला जिसका नाम चंदा साहब है, उसकी उम्र 42 वर्ष की है और दूसरा जिसका नाम मौहम्मद अली है वह 16 वर्ष का है। अंग्रेज 16 वर्ष के मौहम्मद अली के पक्ष में आ जाते हैं, फ्रांसीसी चंदा साहब के। परंतु फ्रांसीसी हार जाते हैं। 1748 से अंग्रेज इस

नवाब को अपने साथ लेकर दक्षिण की विजय यात्रा पर निकलते हैं। नाम नवाब का है पर सेना अपनी है, काम अपना है। उसके लिए जो खर्चा चाहिए, उसको अंग्रेज जहाँ-जहाँ विजय करते हैं वहाँ की लूट से व करों से पूरा कर लेते हैं। नवाब को भी कर्ज देते रहते हैं जो वह अंग्रेजों की सैनिक मदद में व उनकी खातिरदारी में खर्च करता है। नॉमिनल काम-काज चलता रहता है। यही पैटर्न आखिर तक, मतलब 19वीं सदी के अंत तक, हिंदुस्तान में चलता है। बात यह है कि अंग्रेजों का 16 वर्ष से ऊपर के नवाबों और राजाओं से बैठता नहीं था। मुश्किल आती थी, फिर उसे हटा देते थे और किसी बच्चे को नवाब बना देते थे, उसकी माँ को उसका गार्जियन बना देते थे। अंग्रेजों का इस संबंध में एक दस्तावेज है। 1772 में हॉरलैंड नामक ब्रिटिश सरकार का एक बड़ा अफसर आया है जिसके सामने नवाब रोना रो रहा है। हारलैंड लंदन रिपोर्ट करता है। क्या-क्या कहता है? जो भी ज्यादातियाँ यहाँ अंग्रेजों द्वारा की जा रही हैं वो सब इसमें आ गई हैं। जैसे फोर्सूड लेबर (बेगार), 50 प्रतिशत वार्षिक ब्याज पर कर्ज देना, मारना-पीटना, लोग खेती कर रहे हैं उनकी खेती छुड़वा कर उनके बैल ले जाना, क्योंकि उनको (अंग्रेजों का) सामान ढोना है। ये सारा कुछ बड़े पैमाने पर चल रहा है। शायद 1700 से ही यूरोप का यह प्रयास भारत में रहा है कि भारत में वीरता व शौर्य न रहे। इसी को लेकर महाराष्ट्र के सेनापति आंगरे को 1754 के करीब समाप्त किया गया। इसमें अंग्रेज सेना, अफसर सभी शामिल हैं। गवर्नर जनरल भी शामिल हैं क्योंकि वे सब यहाँ यही करने के लिए आए हैं।

कहने का मतलब यह है कि 1800 के करीब से बहुत सारे फैसले अलग-अलग विषयों पर होते चले गए। जैसे इंग्लैंड में, कोड़े मारने का रिवाज रहा तो यहाँ भी कोड़े मारने का रिवाज लागू किया गया। अंग्रेज अफसर अपने नौकरों को पीटते थे। हिंदुस्तान में, यहाँ तक कि मुसलमानी राज्य में भी, नौकरों आदि को इस तरह पीटने का रिवाज नहीं था। साधारणतः बहुत से भारतीय तो कोड़ा देखते ही मर गए। भारतीय विद्या के विद्वान माने जाने वाले तथा कलकत्ता स्थित सुप्रीम कोर्ट के जज रहे विलियम जोंस तो यह कहते हैं कि यदि कोई अंग्रेज किसी नौकर को कोड़े मारता है परंतु उसकी नौकर को जान से मार डालने की कोई मंशा नहीं है, फिर भी वह इस कोड़े की मार से मर जाता है तो उसमें मारने वाले का कोई कसूर नहीं माना जा सकता है। यह जो कोड़े मारने का कानून है, इसके अनुसार इंग्लैंड में तो 1850 तक फौज में 2000 कोड़े मारने तक की सजा दी जाती रही। ये सब 1860 तक तो बराबर चलता ही रहा और 500-700 कोड़े की सजा ब्रिटेन की फौज में सामान्यतः दी ही जाती थी। वहाँ का दूसरा उदाहरण है कि 17वीं सदी में जब यह पता चला कि एक रेजीमेंट में कुछ हुक्मउदूली हो गई, पर यह पता नहीं चल सका कि किसने हुक्मउदूली की, तो पूरी रेजीमेंट को लाइन किया गया और फिर प्रत्येक 10वें आदमी को बाहर निकाला गया और उनको गोली मार दी गई। दोबारा रेजीमेंट को लाइन किया गया, फिर प्रत्येक 10वें आदमी को बाहर निकाला गया और उनको भी गोली मार दी गई।

ऐसा काफी देर तक होता रहा। ये समझने की बात है कि उनके यहाँ क्या किया जाता था। उनके यहाँ तो लोगों को तोप के मुँह पर बाँधकर पीछे से गोला चला कर उड़ा दिया जाता था। यह सब 1760 तक तो बराबर इंग्लैंड में चलता था। इंग्लैंड में, यूरोप में ये जो सब चलता था, वह इसलिए कि प्रजा को आतंकित करना है। इंग्लैंड की या यूरोप की जो प्रजा है वह अधिकांशतः आतंकित (टेरराइज्ड) प्रजा है। इंग्लैंड की प्रजा कुछ ज्यादा ही आतंकित रही है।

1770-80 के दौरान एडिनबरा में एक मार्टिन फिलॉसफी के प्रोफेसर हैं, प्रो. एडम्स फर्गुसन, इन्हें ब्रिटिश सोसियोलॉजी का फाउंडर भी कहा जाता है, इनके कई शिष्य भारत में भी हैं। उनके सामने यह सवाल उठता है कि भारत का शासन कौन चलाए? इस पर फर्गुसन कहते हैं कि भारत के शासन को चलाने व भारत से यूरोप में धन ले जाने का काम तो प्राईवेट लोग ही कर सकते हैं। सरकारी तंत्र के द्वारा तो यह मुश्किल होगा, क्योंकि यदि सरकारी अफसर अधिक ज्यादातियाँ करेंगे, गलत रास्तों पर चलेंगे तो सरकार को इन्हें रोकना पड़ेगा। अगर सरकारी तंत्र नहीं होगा, ईस्ट इंडिया कंपनी की तरह का तंत्र होगा, तो इन ज्यादातियों की अनदेखी की जा सकती है। फिर उन्होंने कहा कि ऐसा करो कि यह लूट कर धन लाने का काम तो कंपनी के नौकरों के द्वारा ही चले, प्राईवेट स्तर से हो, लेकिन कंपनी को हुक्म देने व सुपरविजन का काम सरकार द्वारा बनाई व्यवस्था करे। आरंभ के दिनों में तो ब्रिटेन की सरकार कंपनी से बिना ब्याज पर कर्ज लेती थी। ये जो पुस्तकों में लिखा है कि हिंदुस्तान का शासन कंपनी चलाती थी, यह पूरी तरह से असत्य है। कंपनी तो सरकार द्वारा बनवाई गई। उसको सरकार द्वारा प्रोटेक्शन दिया जाता था। नौ-सेना या सेना द्वारा मदद दी गई।

1850 के करीब, मद्रास प्रेसीडेंसी सेऔर उस समय मद्रास प्रेसीडेंसी बहुत बड़ा इलाका है। उसमें पूरा तमिलनाडु, आज का आंध्र प्रदेश या पूरा कोस्टल आंध्र प्रदेश, शामिल था, कर्नाटक के कुछ जिले थे, मालाबार आदि सब उसमें शामिल थे। लंदन यह शिकायत गई कि वहाँ 40-50 वर्ष में एक तिहाई सिंचाई वाली जमीन खेती से निकल गई है। क्यों निकल गई? क्योंकि सरकार उस पर जो कर लेती है, वह कर उपज से ज्यादा होता था। इसलिए लोग पानी वाली जमीन छोड़कर ऊसर जमीन पर खेती करने लगे। इसके कारण सरकार को दिए जाने वाले कर पर भी असर पड़ा। इन बातों के कारण किसानों व खेतिहरों को भयंकर यातना दी जाने लगी। लेकिन अंग्रेज कहते हैं कि ये तो हिंदुस्तानी नौकर करते हैं, हम नहीं करते। जितने सरकारी निर्देश हो सकते थे, उतने दे दिए। इनके सबके दस्तावेज हैं। बाद में, 1858 में जब सब ठंडा हुआ तो उस समय लंदन से निर्देश आया कि बहुत से लोग मर गए, बहुत लोग खत्म हो गए हैं तो अब यह बड़ा कल्लेआम बंद होना चाहिए। फिर कहते हैं कि हिंदुस्तानी लोग तो मरने से तो नहीं डरते परंतु शारीरिक यातनाओं से घबराते हैं। मतलब यह है कि यातना दो।

क्रमशः कोई एक सौ बरस बीतते-बीतते भारतीय व्यवस्थाएँ बिखरती चली गईं। और किसी स्टेज में आकर, कहीं 1870 में तो कहीं 1880 में, अलग-अलग जगहों पर अलग-अलग समय, हिंदुस्तान के लोगों में यह मान्यता हो गई कि हम तो गए, अब हम से तो कुछ होना नहीं है, इन्हीं का राज अब चलेगा। बचपन में मैं एक कहानी सुनता था कि सीता जी हनुमान एवं उनके वंशजों को यह वरदान दे गई थीं कि भविष्य में उनका ही राज चलेगा। और ये अंग्रेज हनुमान के वंशज हैं, देखो जैसे ही तो दिखते हैं इसलिए अब यही राज करेंगे! यह सब बात कैसे उड़ी, यह पता नहीं शायद अंग्रेजों ने ही इस तरह की बात उड़ाई हो। पर हिंदुस्तानियों में शायद ऐसा कुछ बैठ गया कि इन्हें हटाना बहुत मुश्किल है।

इस तरह हमारा समाज, तंत्र, प्राइवेट तरीके आदि टूटते चले गए, उन्हें नीची निगाह से देखा जाने लगा। हम अपने काम छिपाकर करने लगे। जैसे कोई मंदिर जाता है या पीपल के पेड़ को पूजता है तो क्योंकि उसे नीची निगाह से देखा जाता है, इसलिए वह बताना नहीं चाहता कि वह वहाँ गया था। अब यदि आप उससे पूछें तो उत्तर मिलता है कि नहीं-नहीं हम तो ऐसे ही चले गए थे, आदि। हर भारतीय को हीन बनाने के प्रयास हुए हैं। फिर भी, कुछ लोग अभी भी उनमें बचे हैं। कुछ में शक्ति है, एकदम से टूट नहीं गए हैं। लेकिन व्यवस्थाएँ टूट गई हैं।

सन् 1857 की कोशिश के बाद, जिसमें 20-50 लाख भारतीय मारे गए थे, अंग्रेजों के लोग भी मारे गए थे और उससे पहले भी बीच-बीच में, हर 4-5 साल में सेना के रेजीमेंटों में विद्रोह होते रहते थे। 1858 से अंग्रेजी राज्य का भयंकर आतंक चला। इन सबका अंग्रेजों से एक बदला जैसा लेने के लिए, गौवध के खिलाफ एक देशव्यापी आंदोलन 1880 के करीब से चला। जैसे 1780 के करीब उदयपुर, जयपुर, जोधपुर आदि के राजाओं ने अंग्रेजों से कहा कि यदि हम आपसे समझौता करते हैं, आपके मातहत होते हैं, तो आप हमारे यहाँ गाय मत काटिए। इसको ट्रीटी में लिखने दउकी बात भी, बाद में 1818 में हुई लेकिन अंग्रेजों ने नहीं लिखा, केवल आश्वासन दिया कि जहाँ तक हो सकेगा उनके क्षेत्र में गाय नहीं काटेंगे। इस देशव्यापी आंदोलन में लोग खड़े हो गए। इस आंदोलन से संबंधित इटैलीजेन्स रिपोर्ट आदि सब है। 1893 ई. में जब यह आंदोलन अपनी पराकाष्ठा पर था, इसमें करोड़ों भारतीय सम्मिलित रहे होंगे। उन दिनों ब्रिटिश महारानी ने भारत में अपने प्रतिनिधि वॉयसराय लैन्सडाउन को लिखा कि यह आंदोलन भारतीय मुसलमानों के खिलाफ नहीं है, जो कि गायों को बहुत कम मारते हैं। यह आंदोलन तो हम अंग्रेजों के खिलाफ है, जिनके लिए ही भारत की गायों का इतना अधिक कत्ल होता है। इस आंदोलन में काफी संख्या में मुसलमान भी सम्मिलित थे। साधारण किसान, कारीगर, व्यापारी, बहुत से राजा, हजारों भारतीय सरकारी कर्मचारी और संन्यासी तो शामिल थे ही। दक्षिण के एक संन्यासी श्रीमन स्वामी का इस आंदोलन में बड़ा योगदान माना जाता है। गायों के इतने बड़े पैमाने पर काटे जाने में मुसलमानों का इतना ही काम रहा कि वे सेना के कत्लखानों में काम

करते थे और गायों को खरीदने के बाद उन्हें हाँक कर कत्लखानों में ले जाते थे। मन से अधिकांश मुसलमान भी गौवध के खिलाफ थे ऐसा दस्तावेजों में दिखता है। लेकिन अंग्रेजी कूटनीति ने इस तरह का खेल खेला कि गायों को मारने की संपूर्ण जिम्मेदारी मुसलमानों की दिखने लगी। और कुछ ही महीनों के बाद सांप्रदायिक दंगे होने के कारण इस आंदोलन को 1894 में बंद होना पड़ा। फिर 1916 में और बाद में समय-समय पर आगे भी यह आंदोलन खड़ा होता है, लेकिन तब तक तो और भी प्रश्न खड़े हो गए हैं। कुछ हिंदुस्तानी भी अंग्रेज बन गए हैं।

आज जो कुछ खोज है शिक्षा में, तकनीक आदि में, वो सब तो पश्चिम के विद्वानों की खोज है। परंतु 1750 में दुनिया के कुल औद्योगिक उत्पादन का 73 प्रतिशत उत्पादन भारत और चीन के क्षेत्र में होता था और 1830 में भी यह 60 प्रतिशत तक था। यह कोई जरूरी नहीं कि यह कोई हाई टेक्नोलॉजी की प्राबल्य हो। हमारे यहाँ समृद्धि थी, काम था, हमें तरीके आते थे, ये सब एक सक्रिय समाज की निशानियाँ थीं। मैं तो यह मानने लगा हूँ जो महात्मा गाँधी ने कहा है कि हमारे पूर्वज यह जानते थे कि जटिलता में जाने से तो खराबी ही होती है, आदमी खराब होता है, आत्मा खराब होती है, उसमें फँसना नहीं चाहिए। हमारे यहाँ तो साधारण व जिससे काम चले, ऐसे तरीकों से ही उत्पादन होता रहा होगा। यह स्वभाव होता है। हमारा भारी मशीनरी वाला स्वभाव नहीं है। जवाहरलाल नेहरू का ऐसा स्वभाव बन गया था क्योंकि वह इंग्लैंड में रहे तथा घर में उनकी काफी देखभाल अंग्रेजों ने की। ऐसा ही अन्य हजारों भारतीयों के साथ, जिनका पश्चिमीकरण होता गया, उनके साथ भी हुआ होगा।

ये जो सब बिगड़ा है, एक तो यह कैसे बिगड़ गया और दूसरा अब क्या किया जा सकता है? एक तो 1750 में जैसा था, जो चरखा आदि चलता था, तो वैसा कर लो फिर वैसा करना संभव भी है या नहीं? हमारे पास इसके लिए साधन हैं या नहीं? दूसरा कुछ और किया जा सकता है क्या? तो वो जो सोचने का काम है, वो तो करना होगा। लेकिन नकल करके नहीं। हम नकल बहुत करते हैं। आज तो जो कुछ भी हिंदुस्तान में है, वह नकल करके ही बना है। जो कुछ भी ढाँचा (Infrastructure) हैसेना, अस्पताल, सरकार का ढाँचा, बैंक, बीमा कंपनियाँ आदिसभी कुछ नकल करके ही बनाया है। स्कूल, कॉलेज, यूनिवर्सिटी आदि सभी कुछ। अंग्रेजों ने जो 1750 के बाद से दिया, वही सब है। बाद में अमेरिका, जर्मनी आदि से लिया गया है। लेकिन नकल ही है, इससे ज्यादा कुछ नहीं है। यह है कि हम कुछ बना लेते हैं, कुछ सॉफ्टवेयर बना लेते हैं लेकिन हमने अपना कंप्यूटर नहीं बनाया। कंप्यूटर इस तरह से बनने के बजाय उस तरह से भी बन सकता है, ऐसा हमने नहीं सोचा। यह नहीं सोचा कि हवाई जहाज ऐसे नहीं, जैसे भी बन सकता है। यह सब नहीं सोचा। यह सब सोचने का काम नहीं किया। एकबार मैंने आप में से ही किसी से पूछा कि बात क्या है? हम क्यों नहीं कुछ करते? तो उन्होंने कहा, हमारे लोग तो यह कहते हैं कि

ये प्रश्न तो सारे संसार के हैं, वे लोग कुछ करेंगे तो हम उसकी नकल कर लेंगे। तो मैंने कहा कि वो लोग तो पाँच-सात चीजों में ही करेंगे न, हमारे प्रश्न तो हजारों हैं, उनका क्या होगा? हमें हजार चीजों में करने की जरूरत है। यदि हम कुछ करेंगे नहीं, तो इसमें से निकलेंगे कैसे? फिर बात समाप्त हो गई।

यदि हमें पश्चिमी की ही राह पर चलना है और हमने यह मान लिया है कि इस काल में पश्चिम की ही बात चलने वाली है, तो ठीक है। पश्चिम से हम कुछ क्षेत्रों में, पाँच-सात दिशाओं में आगे निकल जाएँ। जैसे सोलर एनर्जी में मान लीजिए, उनसे आगे निकल जाइए, तो उनसे बातचीत हो जाएगी। लेकिन जब तक यह नहीं होगा, तब तक हम उनसे भीख ही माँगते रहेंगे। वो कंप्यूटर में छठी जेनरेशन का कुछ कर रहे हैं, हम चौथी जेनरेशन का इस्तेमाल कर रहे हैं। फिर हम उनकी खुशामद कर रहे हैं कि पाँचवीं जेनरेशन का हमें कुछ दे दीजिए। इससे तो कुछ नहीं होगा।

अमेरिका के राष्ट्रपति क्लिंटन आएँगे, कुछ और विदेशी नेता आएँगे, लोग तो आते ही रहते हैं। वे कुछ हमारी बड़ाई करेंगे, पाकिस्तान की कुछ बुराई करेंगे, या चीन को कुछ कहेंगे, तो हम यह मान लेंगे कि इनकी राय तो अब बदल गई है; ये हमारे मित्र बन गए हैं। ये तो सब फालतू की बातें हैं। ये तो दुनिया में होता ही रहता है। हम भी ऐसा ही करते होंगे। इसमें कुछ रखा नहीं है, यह तो बहकना है।

1942 के करीब का रुजवेल्ट का एक वक्तव्य है। हुआ यूँ कि चांगकाई शेक, जो उस जमाने में चीन के राष्ट्रपति थे, 1942 के आरंभ में भारत आए थे। वे चाहते थे कि अंग्रेजों के और हमारे बीच कोई समझौता हो जाए। लेकिन अंग्रेज उनका यहाँ आना पसंद नहीं करते थे। पर ये चीन के राष्ट्रपति हैं और चीन भी लड़ाई में पड़ा है, इसलिए उन्हें रोकना मुश्किल था। रुजवेल्ट भी उनके आने के पक्ष में थे, इसलिए वह आए। चांगकाई शेक महात्मा गाँधी से मिलना चाहते थे और वह भी सेवाग्राम में। पर अंग्रेजों को लगा कि नहीं-नहीं गाँधीजी से मिलने चीन के राष्ट्राध्यक्ष यदि सेवाग्राम जाएँगे, तो यह तो गलत हो जाएगा, गाँधीजी को बड़प्पन मिल जाएगा। काफी सोच-विचार के बाद अंग्रेजों ने तय किया कि रवींद्रनाथ नाथ टैगोर के यहाँ उनकी गाँधीजी से मुलाकात हो सकती है। खैर, यह तो दूसरा किस्सा है। परंतु इस बात को लेकर अंग्रेज रुजवेल्ट से नाराज हुए। उन्होंने कहलवाया कि आप हमारे काम में दखल क्यों दे रहे हैं? इसके कुछ समय बाद अगस्त, 1942 में ब्रिटिश अंबेसिडर से रुजवेल्ट की लंबी बात हो रही है, उसका एक हिस्सा भारत के बारे में है, यह छपा है। ये तो ट्रांसफर ऑफ पॉवर के दस्तावेज हैं, 12 वाल्यूम, कुल दस हजार पन्ने के, उनमें छपा है। वैसा ही हमारे आई.सी.एच.आर. वाले भी कर रहे थे, पर उनसे अभी तक कुछ विशेष हुआ नहीं। तो इस बातचीत में रुजवेल्ट यह कह रहे हैं कि आप (अंग्रेज) हिंदुस्तान में चाहे जो करें पर कुछ ऐसा हो कि अंततः भारत पश्चिम के घेरे में ही बना रहे। ये हैं उनके शब्दकि भारत पश्चिम के घेरे में, छत्रछाया में ही बना रहे। फिर उनका जो सेक्रेटरी ऑफ स्टेट था उसने कहा कि चीन के विदेश मंत्री तो यह कहते

हैं कि हिंदुस्तानी तो एशियाटिक हैं। उस पर रुजवेल्ट का कहना है कि नहीं-नहीं, ये तो एशियाटिक नहीं हैं, ये तो हमारे कजिन हैं। ये तो इंडो-आर्वन स्टॉक के हैं।

आशय यह है कि कहीं हिंदुस्तानी चीनियों से नहीं मिल जाएँ। क्योंकि भय है कि कहीं यह 20-30 साल में या और बाद में अपनी अलग दुनिया न बसा लें। यही भय अभी भी है। इसीलिए इन्हें अपने पीछे लगाए रखो। तो इस तरह का उनका ध्येय रहा है, उनकी मानसिकता रही है, स्वार्थ रहा है, स्वप्न भी ऐसा ही होगा। उन्हें ईसा मसीह ने बतलाया होगा, किसी पैगंबर ने बतलाया होगा कि कभी ऐसा होने वाला है कि हमेशा के लिए इस पृथ्वी पर आपका ही बस चलेगा, आप ही की दुनिया पूरे संसार में चलेगी। लेकिन इसी तरह और लोगों के भी स्वप्न होते हैं, स्वभाव होता है कि हम अपनी दुनिया में रहें। यह सभी का होता है। होना तो यह चाहिए कि संसार में चार-पाँच दुनियाएँ बन जाएँ यूरोप की, अमरीका की, अफ्रीका की। हम भी अपनी एक दुनिया बना लें। हमारे यहाँ उपजाऊपन भी है, कला भी है, दिमाग भी है, हमारा गणित भी ऊँचा है, हमारा अपना एक सिस्टम है। ऊँचा है या नीचा है, उसको छोड़िए। मुख्य बात है कि ये एशिया वाले अपनी दुनिया बना सकते हैं। इसी प्रकार अफ्रीका वाले भी बना सकते हैं। अब यूरोप वाले राक्षस हैं, अमरीका वाले राक्षस हैं, हमारी ये मान्यताएँ हो सकती हैं। परंतु राक्षसों को भी रहने का अधिकार तो होता ही है। सभी राक्षस तो नहीं मार दिए जाते। लेकिन इतना रहे कि राक्षसों से थोड़ा दूर रहो, उतना पास नहीं जाओ। 'ग्लोबल विलेज' नहीं बनाओ। ये 'ग्लोबल विलेज' तो एक बला है।

'ग्लोबल ट्रेड' फालतू की बात है। अभी मैंने सुना कि खादी का एक्सपोर्ट हो रहा है। तमाम हाथ की बनी चीजों को हम एक्सपोर्ट करते हैं। तो हम बाहर चीजें भेजते हैं वहाँ उनकी कीमत कुछ भी हो सकती है, दस गुनी भी हो सकती है, बीस गुनी भी हो सकती है। अपने हाथ का बना सामान हम क्यों भेजते हैं? और क्यों भेजें? काहे के लिए? हमारे यहाँ खपत नहीं है क्या? हमारे यहाँ बहुत जरूरत है। हम अपना दूसरा अर्थशास्त्र बनाएँ, अपना तरीका बनाएँ। ये जो चीजें हम बाहर भेजते हैं, उसके बदले हमें कुछ नहीं मिलता। या तो हम यह तय कर लें कि जो भी चीज बाहर जाएगी, वह लगभग दस गुने दाम पर जाएगी। उससे कम पर नहीं जाएगी। वे जैसे अपने सामान का दाम लेते हैं बंदूकों, हवाई जहाजों आदि का दाम अपने हिसाब से तय करते हैं, तो हम भी अपने सामान का दाम अपने हिसाब से तय करेंगे। हमारी भी कला है, ऐसे ही नहीं है। वैसे तो हमें पश्चिम को कुछ ही नहीं है।

इसके अलावा ये जो एक्सचेंज रेट है, जो पिछले दो सौ-ढाई सौ साल में फिक्स हुए, वह तो सब गलत हैं। मेरी बेटी जर्मनी में है, स्कॉलर है, उसके हिसाब से तो एक डॉलर एक रुपए के बराबर ही बैठता है। ऐसा वह बार-बार कहती है, उसको ऐसा ही लगता है, और पिछले तीस बरस से वह इस बात को समझती है। यह बात क्यों हमारी समझ में नहीं आती? ये इतने ऊँचे-ऊँचे लोग बैठे हैं, दुनिया भर घूमते हैं,

लिखते हैं, इन्हें क्यों नहीं समझ में आता है? या कि इनमें हिम्मत नहीं है? या कोई और लोग चाहिए कहने वाले? अब कहने वाले तो आप लोगों में से ही निकलेंगे। आप लोगों से मेरा मतलब है आप जैसे लोग। ये लोग 20-50 लाख तो होंगे ही। ये लोग कहें। क्योंकि ये जो सब कुछ एक तरफा हो गया है, प्रजा और सरकार का जो ये संबंध है कि सरकार को कहना है और प्रजा को तो बस सुनते रहना है प्रजा को तो बस पिटते ही रहना है, सरकार जो मर्जी आए करती रहे, यह तो नहीं चल सकता। इसको तो उलट देने की आवश्यकता है।

यूरोपीय विचार हो सकता है कि प्रजा इसीलिए होती है, और ऐसा विचार यूरोप में है भी। यूरोप की प्रजा सबआर्डिनेट है। बंध करके चलती है। आज के मॉडर्निज्म में भी बंध करके चलती है। अमेरिका में भी, हम जिसे स्वराज कहते हैं, वह नहीं है। अपने हिसाब से आदमी कुछ कर ले, जैसे कि आज तो काम नहीं करना है, भाई, जरा सो लो। वहाँ यह नहीं हो सकता। यूरोप के जनसाधारण के लिए आजादी या फ्रीडम की जो बात कही जाती है या यूरोप की समृद्धि आदि की जो बात है, वह हो सकता है जहाँ-तहाँ हजार-पंद्रह सौ वर्ष पूर्व रही होगी परंतु आज जो समृद्धि है, वह तो 50 वर्ष पहले ही बनना शुरू हुई है उसके पहले की तो नहीं है। ये समृद्धि तो ऐसी है कि अगर आप को एक महीने काम न मिले और यदि राज्य आपको सोशल सिक्यूरिटी वगैरह नहीं दे, तो आपका जिंदा रहना मुश्किल हो जाएगा। क्योंकि आपके पास किराए आदि का पैसा नहीं होगा। ये सब अपने यहाँ भारत में भी, मिडिल क्लास में, होने लगा है। क्योंकि यदि आप 3-4 हजार किराया देते हैं और दस हजार रुपए का वेतन बंद हो जाता है जिंदा रहना संभव नहीं होगा।

मैंने जो लिखा है उसमें कॉन्स्टेंटाइन की बात कही है कि जब 320 ई. में वह ईसाई बना तो यह कह दिया गया कि सारे यूरोप की प्रजा भी ईसाई बन गई। जबकि यूरोप के विद्वान कहते हैं कि यूरोप को पूरा ईसाई बनने में तो 1200 वर्ष लगे। तो वहाँ इस तरह का होता है। बाद में, 1550 ई. में प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक लोगों में जो लड़ाई हुई, उसके बाद आक्सबर्ग की ट्रीटी (शांतिनामा) हुई उसमें लिखा है कि जो राजा का संप्रदाय है, वही संप्रदाय प्रजा का भी होगा। जिसको (प्रजा को) यह पसंद नहीं हो, वह राज्य छोड़कर चला जाए। तो उनकी मान्यताएँ इस तरह की हैं। इसलिए यदि हम अपनी मान्यताओं के अनुसार अपना संसार नहीं बनाएँगे, तो मुझे नहीं लगता कि हम कुछ कर पाएँगे।

अंग्रेजों के विचारों एवं कार्यों ने हमारे समाज को तोड़ा, उसे रूढ़िग्रस्त बनाया, और हमारे कुछ लोगों को (उनकी संख्या आज शायद 5-10 लाख होगी), 'बिना समझ का अंग्रेज' बना दिया। और अंत में उन्होंने ऐसे ही 'अंग्रेजों' को भारत का राज्य सौंप दिया। ऐसा होने में सभी बड़े अंग्रेजों का हाथ रहा। वे एक तरह से सभी विलियम विलबरफोर्स (जिन्होंने 1813 ई. में ब्रिटेन के हाऊस ऑफ कामन्स से यह तय करवाया कि भारत में ईसाइयत फैलाना अंग्रेजी राज्य का मुख्य कार्य है) व जेम्स मिल

और मैकाले, जिनके विचार से भारत की सभ्यता सबसे गिरी हुई थी, के बौद्धिक वंशज थे। इंग्लैंड की लेबर पार्टी के प्रधानमंत्री क्लिमेंट ऐटली उन्हीं में से थे, और अमरीका के राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूजवेल्ट भी। रूजवेल्ट के अनुसार तो यह आवश्यक था कि भारत पश्चिम के संरक्षण एवं घेरे से बाहर नहीं निकल पाए। अपने जवाहरलाल नेहरू भी बहुत हद तक इन्हीं लोगों की मानसिकता के थे। आज तो इस तरह की मानसिकता भारत में बहुत बढ़ी है। लेकिन यह शायद निजी विश्वासों के स्तर पर आज पहले से कमजोर है।

अब हम कैसे भारतीयता को प्राण दें, और उसका साहस एवं उत्साह वापस लाएँ, ये प्रश्न हम सभी के लिए विचारणीय है। मेरी सोच में गाँधीजी ने भारत की ऐसी स्थिति को अन्य सभी भारतीयों से अधिक समझा। उनकी इस तरह की समझ शायद उनके बचपन से ही बढ़ने लगी थी। 1891 ई. में जब वे 22 वर्ष के थे, उन्होंने लंदन में प्रकाशित एक लेख में लिखा कि भारतीयों में इतनी गरीबी है कि वह कर लगाए गए नमक को भी नहीं खरीद पाते। उसी लेख में उन्होंने उस समय भारत में गौ-हत्या के विरोध में चल रहे आंदोलन की भी चर्चा की। दो वर्ष बाद दक्षिण अफ्रीका जाते ही गाँधीजी वहाँ के 50-60 हजार गरीब भारतीयों के प्रश्नों से जुड़ गए, और अगले 10-15 वर्ष में, उनमें से गरीब-से-गरीब परिवार व व्यक्ति को अपने सत्याग्रह आंदोलन में ले आए। सन् 1915 में भारत आते ही गाँधीजी ने भारत भ्रमण किया, साबरमती आश्रम बनाया (जो एक तरह का देश के कार्यकर्ताओं के लिए सैनिक कॉलेज जैसा था, लेकिन जिसके मुख्य हथियार भारत के यम-नियम थे, बंदूकें इत्यादि नहीं) और 1917 से वे अंग्रेजों के तंत्र के विरुद्ध आंदोलनों में लग गए। तब से अंत तक यही उनका जीवन रहा।

लेकिन लगता है कि समय बीतते-बीतते गाँधीजी अपनी शक्ति को कुछ अधिक आँकने लगे। हालाँकि उन्हें पश्चिम की शक्ति, कौशल और कूटनीति का अच्छा अंदाजा था, उन्हें अपने देश के पश्चिमीकृत हुए लोगों में आई गहरी मानसिक गिरावट की समझ शायद ठीक से नहीं थी। फिर भी, इनमें से बहुत से गाँधीजी के सैनिक बने और जैसा उन्होंने कहा उसे अधिकांशतः माना। लेकिन वैचारिक व बौद्धिक स्तर पर पश्चिम जो छाप इन लोगों पर थी, वह मिट नहीं पाई। 1919 ई. में वायसराय चैम्सफोर्ड ने लंदन में सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया को लिखा था कि अब ऐसा समय आया है जब हम केवल जमींदारों, ताल्लुकेदारों के बल पर राज्य नहीं कर पाएँगे, हमें अब शिक्षित और बौद्धिक लोगों को अपने साथ लाना पड़ेगा। इस तरह की बातें समय-समय पर पहले भी ब्रिटिश राज्य के अधिकारियों में हुई होंगी। यह विचार शीघ्र ही लागू किया जाने लगा और केवल कांग्रेस में ही नहीं, अन्य दलों व समूहों में भी ऐसे लोगों को आगे आने के लिए बढ़ावा दिया गया।

जैसे-जैसे स्वतंत्रता करीब दिखने लगी, वैसे-वैसे ये पश्चिमीकृत लोग धीरे-धीरे गाँधीजी से हटकर पश्चिमी दृष्टिकोण, योजनाओं और व्यक्तियों के करीब पहुँचने

लगे। यह कोई साजिश नहीं थी, जिस तरह का समाज व व्यवस्थाएँ भारत में थीं, और बढ़ रही थीं, इस स्थिति में ऐसा होना सहज ही था। हमारे पश्चिमीकृत लोगों ने हथियार डाल दिए और जो-जो अंग्रेज चाहते थे वो-वो उन्होंने धीरे-धीरे स्वीकार कर लिया। इसी काम को कराने के लिए इंग्लैंड ने लार्ड माउंटबेटन को भारत का वायसराय चुना था। माउंटबेटन बहुत कुछ रॉबर्ट क्लाइव (1748-1773) जैसे ही थे। उन्हें भारतीयों के धीमेपन का अंदाजा था और दोनों का काम यह रहा कि भारतीयों को ऐसा दौड़ाएँ कि वे घबरा कर और थक कर बैठ जाएँ। माउंटबेटन की व्यूह रचना ही कुछ इस तरह की थी कि भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन कुछ धीमा पड़े, भारत में कुछ अराजकता बढ़े और भारत अंग्रेजों से राय व मदद माँगने के लिए लाचार बने। मेरे विचार से यह सब हुआ। दिसंबर, 1946 के अंतिम दिन माउंटबेटन ने ब्रिटेन के राजा जॉर्ज षष्ठ को 3 पन्ने का एक लंबा पत्र लिखा; उसमें उन्होंने इस व्यूह रचना का कुछ अंदाजा दिया है।

अगर हमारे इन पश्चिमीकृत लोगों में यूरोपीय लोगों जैसी मानसिकता, दुस्साहसीपन और अपने लोगों पर पूरी तरह का नियंत्रण रखना आता, तो शायद यह संभव हो जाता कि हम जापान की तरह व आज के चीन की तरह यूरोपीयन रास्ते पर चल पड़ते। लेकिन ऐसा लगता है कि हममें यूरोप की आज की समृद्धि एवं तंत्र के लिए आकर्षण तो बहुत है, परंतु हमारे पश्चिमीकृत लोग अभी तक यह समझ नहीं पाए हैं कि यूरोप ने अपने को आज जैसा किस तरह से बनाया और उसके लिए कौन-कौन से सैकड़ों हजारों कदम उठाए। इसलिए मुझे लगता है कि यूरोप के रास्ते को किसी भी अंश में ग्रहण करना हमारे लिए असंभव ही है।

मित्रो! मैं कुछ अधिक ही कह गया। लेकिन मुझे नहीं मालूम कि हम आज की इस कठिन स्थिति में कैसे निकलेंगे। इसके शायद बहुत से रास्ते होंगे, कुछ एक दूसरे से उलटे भी। लेकिन इन सब पर भारत के सभी वासियों, विशेषकर साधारण किसानों, कारीगरों, मजदूरों को गहरे ढंग से सोचना है और सोचकर कमर कसनी है। तब कोई कारण नहीं कि हम एक पीढ़ी के समय में इस दलदल से पूरी तरह से उबर न जाएँ।

स्वागत योग्य हैक्षमा याचना का यह रुझान

महीप सिंह*

संसार भर में एक स्वागत योग्य प्रवृत्ति विकसित हो रही हैक्षमा याचना की। संसार का ऐसा कौन सा देश है, कौन सा धर्म है, कौन सा समाज है, यहाँ तक कि कौन सा ऐसा व्यक्ति है, जिसने इतिहास और जीवन के लंबे दौर में किसी अन्य देश (या प्रदेश) धर्म अथवा समाज या व्यक्ति के प्रति अन्याय और अत्याचारपूर्ण व्यवहार न किया हो? इस प्रकार का व्यवहार शारीरिक रूप से भी होता रहा है और मानसिक रूप से भी। कई बार मानसिक प्रताड़ना शारीरिक प्रताड़ना से अधिक भयावह होती है।

इस दृष्टि से कनाडा ने पिछले दिनों एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया। संसार के नए खोजे गए देशों में जब यूरोप की गोरी जातियों ने अपने उपनिवेश स्थापित किए तो अपने समुन्नत सामरिक साधनों की सहायता से उन्होंने वहाँ के मूल निवासियों को प्रताड़ित किया, उन्हें गुलाम बनाया और उन्हें अपनी बस्तियों से दूर घने जंगलों और बर्फीली पहाड़ियों में खदेड़ दिया। इसी के साथ उन्होंने यह भी किया कि जो मूलनिवासी उनके सम्पर्क में आए उनकी संस्कृति, भाषा और पहचान नष्ट करके उन्हें पूरी तरह यूरोपीय रंग में रँगने का प्रयास किया।

कनाडा में भी यही हुआ था। बीसवीं शती के प्रारंभिक वर्षों में कनाडा की गोरी सरकार ने यह निर्णय लिया कि बचे-खुचे कुछ लाख मूल निवासियों का पूरी तरह यूरोपीयकरण किया जाए, उन्हें ईसाई बनाया जाए और उनकी पहचान समाप्त कर दी जाए। इस दृष्टि से सरकार ने देश के विभिन्न भागों में बने हुए गिरजाघरों में आवासीय स्कूलों की स्थापना की। इनमें मूल निवासियों के बच्चों को उनके माँ-बाप से बलपूर्वक छीनकर ले जाया जाता था। एक ओर माँ-बाप रोते-चीखते थे, दूसरी ओर बच्चों का क्रन्दन होता था, किन्तु कनाडा की गोरी पुलिस बड़ी निर्दयतापूर्वक उन्हें उठा ले जाती थी। यह कार्य लगभग एक शती तक चलता रहा। मूल निवासी के बच्चों के साथ कैसा अमानवीय व्यवहार होता था, इसकी गाथा बहुत लोमहर्षक है।

प्रसिद्ध साहित्य-सेवी; पता : एच108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली110026 मो. 931393288

समय के बदलाव के साथ कनाडा सरकार ने यह अनुभव किया कि वह कार्य बहुत अनुचित और अन्यायपूर्ण था। कुछ समय पूर्व देश के प्रधानमंत्री स्टीफेन हारपर ने भरी संसद में, जिसमें मूल निवासियों के अनेक प्रतिनिधि उपस्थित थे, मूल निवासियों से उस कार्य के लिए क्षमा-याचना की और सरकार की ओर से गहरा खेद व्यक्त किया। अपनी क्षमा-याचना के लिए श्री हारपर ने कनाडा की दो राजभाषाओं अंग्रेजी और फ्रान्सीसी के साथ मूल निवासियों की भी तीन भाषाओं का उपयोग किया।

अब एक और क्षमायाचना के लिए कनाडा की सरकार ने अपनी स्वीकृति दी है। यह घटना हैकामागाटा मारु की।

कनाडा में इस समय भारतीय आप्रवासियों की बड़ी संख्या है। ये लोग यहाँ के जनजीवन में पूरी तरह घुल मिल गए हैं किन्तु इन्होंने अपनी संस्कृति, भाषाओं, खानपान और रहन-सहन को सुरक्षित रखा हुआ है। भारतीय भाषाओं में अनेक समाचार पत्र प्रकाशित होते हैं, इनके अपने आकाशवाणी और दूरदर्शन केन्द्र हैं, धर्म स्थान हैं और समृद्ध व्यापार और नौकरियाँ हैं। किन्तु इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए इन्हें कितने ही संकटों और आपदाओं से होकर गुजरना पड़ा था। कामागाटा मारु जहाज की घटना भी ऐसी ही है।

उन्नीसवीं शती के अन्तिम वर्षों और बीसवीं शती के प्रारंभिक वर्षों में पंजाब से निकलकर विदेशों में बसने की इच्छा रखने वाले अधिसंख्य लोगों का रुझान अमेरिका और कनाडा की ओर जाने का था। कनाडा में चीन, जापान और भारत से लोग गए। बाद में भारत से जाने वाले आप्रवासियों के लिए कनाडा सरकार ने अनेक बंधन लगाने प्रारम्भ कर दिए। इनके लिए ऐसा कानून बना दिया गया कि कनाडा में वही व्यक्ति प्रवेश पा सकेगा जो अपने देश से सीधा टिकट लेकर, मार्ग में जहाज बदले बिना, निरन्तर यात्रा करता हुआ कनाडा पहुँचेगा। आने वाले व्यक्ति के लिए यह भी आवश्यक होगा कि उसके पास कम-से-कम 200 डॉलर हों।

बाबा गुरदित्त सिंह का नाम कामागाटा मारु की घटना से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। वे अमृतसर जिले के रहने वाले थे। कुछ समय पूर्व वे हांगकांग चले गए थे। वहाँ उन्होंने 'गुरु नानक स्टीमशिप' नाम से एक कम्पनी बनाई थी। उन्होंने एक जापानी कम्पनी से 'कामागाटा मारु' नाम का एक समुद्री जहाज पट्टे पर लिया और बहुत-सा धन खर्च करके उसे यात्रियों के योग्य बनाया। हांगकांग से यह जहाज 4 अप्रैल 1914 को 165 यात्री को लेकर चला। मार्ग में शंघाई (चीन) से 111 और जापान के मौजी बंदरगाह से 96 यात्री इसमें सवार हुए। ये सभी यात्री पंजाबी थे। वह जहाज 23 मई 1914 को बैकुवर के बंदरगाह पर पहुँचा। कनाडा के अधिकारियों ने इसे बंदरगाह से एक मील दूर समुद्र में ही रोक दिया।

ये सभी यात्री कनाडा सरकार के बनाए नियमों का पालन करते हुए यहाँ पहुँचे थे, किन्तु सरकार ने उन्हें वहाँ उतरने की अनुमति नहीं दी। बैकुवर में बने गुरुद्वारे में वहाँ पहले से बसे हुए सिखों ने एक विशेष सभा करके जहाज में फँसे यात्रियों की

सहायता के लिए 60 हजार डॉलर इकट्ठे किए। अनेक प्रतिनिधि मंडल सरकारी अधिकारियों से मिले। किन्तु सरकार टस से मस नहीं हुई। कामागाटा मारु के सभी यात्री भारत के नागरिक थे। भारत में अंग्रेजों की सरकार थी। वैधानिक रूप से कनाडा भी ब्रिटिश सम्राट/साम्राज्ञी के अधिकार क्षेत्र में था। इस दृष्टि से भारत सरकार से भी निवेदन किया गया, किन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। उल्टे कनाडा सरकार ने अपना एक जंगी जहाज जिस पर तोपें लगी हुई थीं, कामागाटा मारु जहाज के पास लाकर खड़ा कर दिया और चेतावनी दी कि यहाँ से चले जाओ नहीं तो तुम पर गोली चलाई जाएगी।

कनाडा सरकार के दुराग्रह को देखते हुए बाबा गुरदित्त सिंह ने अपने जहाज को भारत वापस ले जाने का निर्णय लिया। लगभग दो महीने तक समुद्र के पानी में खड़े जहाज के कई सौ यात्री अनेक प्रकार के कष्ट झेल कर भारत की ओर वापस चल पड़े और दो माह की यात्रा के पश्चात् यह जहाज कोलकाता से 17 मील दूर बज बज बंदरगाह पर आ गया।

किन्तु यात्रियों के सिरों पर आया संकट यहीं समाप्त नहीं हुआ। भारत की अंग्रेज सरकार इन यात्रियों में उपजे असंतोष से बहुत चौकन्नी हो गई थी। कनाडा से वापसी की यात्रा में इनमें से किसी यात्री को मार्ग में पड़ने वाले किसी बंदरगाह पर उतरने नहीं दिया गया था। बज बज बंदरगाह पर इन्हें वहाँ से सीधे पंजाब ले जाने वाली विशेष रेलगाड़ी की व्यवस्था की गई थी। अधिसंख्य यात्री पंजाब से अपनी जमीन-जायदाद बेचकर सुनहरे भविष्य की आशा में कनाडा के लिए निकले थे। वे चाहते थे कि उन्हें कोलकाता जाने दिया जाए, जहाँ वे अपने पंजाबी भाइयों की सहायता से किसी रोजगार की तलाश कर सकें। बहुत से सिख यात्री कोलकाता के गुरुद्वारे में पहुँचकर स्थानीय सिखों से मिलना चाहते थे। बाबा गुरदित्त सिंह उस जापानी कम्पनी से अपना हिसाब-किताब भी करना चाहते थे, जिसके जहाज को उन्होंने पट्टे पर लिया था।

कुछ यात्री तो रेलगाड़ी में सवार हो गए। किन्तु अधिकतर यात्री एक जुलूस के रूप में कोलकाता की ओर चल दिए।

शाम का समय था। ये यात्री एक स्थान एक पर विश्राम करने के लिए बैठे हुए थे कि पुलिस ने इन्हें चारों ओर से घेर लिया। पिछले अनेक महीनों से यातना झेलते हुए तनावग्रस्त यात्रियों से उनकी तकरार हो गई। वहाँ उपस्थित अंग्रेज अधिकारी की आज्ञा से पुलिस ने उन पर गोलियों की वर्षा शुरू कर दी। इससे 18 व्यक्ति वहीं मारे गए और 25 बुरी तरह घायल हुए। बाबा गुरदित्त सिंह और उनके अनेक लोगों को बंदी बना लिया गया। कितनों को जबरन पंजाब भेज दिया गया।

बाबा गुरदित्त सिंह की गिरफ्तारी के लिए 10 हजार रुपए का इनाम घोषित किया गया। वे सात वर्ष तक अज्ञातवास में रहे। फिर 15 नवंबर 1922 को उन्होंने गुरु नानक देव के जन्म स्थान ननकाना साहब में आत्मसमर्पण किया।

लगभग एक शती पूर्व कनाडा की सरकार ने कामागाटा मारु जहाज से कनाडा आए 376 यात्रियों को अपने देश में प्रवेश न देकर उनके साथ अत्यंत भेदभावपूर्ण व्यवहार किया था। उल्लेखनीय बात यह है कि उसी वर्ष 12 हजार चीनियों और 3 हजार जापानी नागरिकों को वहाँ आप्रवास मिला था।

इस समय कनाडा की संसद में लगभग 10 भारतीय मूल के सांसद हैं। इनमें नीना गरेवाल बैंकुवर क्षेत्र से चुनी हुई, सत्तारूढ़ कंजरवेटिव पार्टी की सदस्य हैं। वह और उसके पति, गुरुमंत सिंह गरेवाल (पूर्व सांसद) अनेक वर्षों से यह प्रयास करते रहे हैं कि कनाडा की सरकार कामागाटा मारु के यात्रियों के प्रति किए गए दुर्व्यवहार और अन्याय के लिए क्षमा याचना करे।

उनके प्रयत्नों का परिणाम सबसे पहले ब्रिटिश कोलम्बिया की प्रान्तीय सरकार में दिखाई दिया। 23 मई 2008 के ठीक 94 वर्ष पूर्व कामागाटा मारु जहाज इस प्रांत के बैंकुवर बंदरगाह पर पहुँचा था। उस दिन सत्ताधारी लिबरल पार्टी के सदन के नेता माइक डी. जोंग ने प्रान्तीय असेम्बली में उस घटना के लिए पहले पंजाबी में कहा 'सानू मुआफ करो, तुहाड़ा स्वागत है' और फिर अंग्रेजी में कहा 'फारगिव अस, यू आर वेलकम'। सारे सदन ने इस माफी का एकमत से समर्थन किया।

कुछ दिन पहले सांसद नीना गरेवाल के प्रयत्नों से केन्द्र सरकार की संसद में बैसाखी का उत्सव मनाया गया। इस अवसर पर प्रधानमंत्री श्री स्टीफन हारपर भी उपस्थित थे। उन्होंने भी कामागाटा मारु कांड के लिए भारत से क्षमा माँगी और आश्वासन दिया कि शीघ्र ही संसद में यह प्रस्ताव लाया जाएगा और कनाडा की सरकार की ओर से क्षमा याचना की जाएगी। कुछ दिन पूर्व ही कनाडा में विपक्ष के नेता जैक लेटन ने वहाँ की संसद के सम्मुख यह प्रतिवेदन दिया कि संसद विधिवत् रूप से उस घटना के सम्बन्ध में क्षमा याचना करे।

ऐसी क्षमा याचना का सिलसिला पूरे संसार में प्रारम्भ हो गया है। जापान ने चीन से क्षमा याचना की है और उस देश से अपने सम्बन्धों का नया युग प्रारम्भ करने के लिए प्रयत्नशील है। अमेरिका अपने देश में अश्वेतों के प्रति हुए व्यवहार के लिए खेद प्रकट कर रहा है और आस्ट्रेलिया की गोरी सरकार भी अपने मूल निवासियों से, उनके प्रति हुए दुर्व्यवहार के प्रति क्षमा याचना की बात कह चुकी है।

भारत और पाकिस्तान में भी कुछ लोग, और भारत-पाक मित्रता के लिए समर्पित कुछ संस्थाएँ, यह प्रस्ताव सामने लाए हैं कि देश के विभाजन के समय दोनों ओर जो व्यापक नरसंहार हुआ उसके लिए एक-दूसरे से क्षमा याचना करें।

इस वातावरण में यह उपेक्षा करना भी मुझे स्वाभाविक और उचित लगता है कि एक दिन इस देश का सवर्ण समाज दलितों के प्रति हुए भेदभाव और अन्याय के लिए क्षमाप्रार्थी होगा।

पारिवारिक जटिलताएँ : जैनेन्द्र के उपन्यास

पुष्पपाल सिंह*

“उपन्यास में जैसी दुनिया है वैसी ही चित्रित नहीं होती। दुनिया का कुछ उठा हुआ, उन्नत, कल्पित रूप चित्रित किया जाता है। वह उपन्यास किसी काम का नहीं, जो इतिहास की तरह घटनाओं का बखान कर जाता है। काम के मतलब, वह दुनिया को आगे बढ़ाने और बढ़ने में जरा मदद नहीं देता। क्योंकि न वह इतिहास होता है, न उपन्यास ही।...उपन्यास का काम है, कुछ आगे की, भविष्य की संभावनाओं की जरा झाँकी दिखाना और जो कुछ अब है, उसकी तह हमारे सामने खोलकर रख देना।”

जैनेन्द्र ('परख' की 'कुछ शब्द' भूमिका से, वर्ष 1929)।

अपने प्रथम उपन्यास की भूमिका के इस कथन के रूप में जैनेन्द्र अपनी औपन्यासिक यात्रा का प्रस्थान-बिन्दु तय करते हैं और प्रदत्त सामाजिक व्यवस्था में अपना आदर्श लोक (यूटोपिया) रचने में प्रवृत्त होते हैं। 'कुछ आगे की, भविष्य की संभावनाओं की' तलाश में वे सदियों से चले आते पारिवारिक ढाँचे की परम्पराओं, मर्यादाओं, को पुनर्परीक्षित करने की पहल करते हैं, या कहें उन्हें पहली बार, साहित्यिक मंच से, खुली चुनौती देते हैं। जैनेन्द्र के सभी उपन्यास परिवार के घेरे में ही सिमटे हुए हैं, उनके कथासंसार का सीमित क्षेत्र नहीं कहना चाहिए, यह उनकी विशेषज्ञता का क्षेत्र है। पारिवारिक सम्बन्धों में भी वे मुख्यतः दाम्पत्य सम्बन्धों या कहें स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की जटिलताओं में ही प्रवेश करते हैं। भाई, पिता, बुआ, आदि के सम्बन्ध वहाँ बहुत गौण रूप में आते हैं, आए भी हैं तो उनमें कोई विशेष जटिलताएँ देखने में नहीं आतीं, उन सम्बन्धों का स्वरूप पारम्परिक बना रहता है। दाम्पत्य सम्बन्धों में तीसरे की उपस्थिति की बात जैनेन्द्र इतिहास के किस काल-खंड में कर रहे हैं, यह देखना आवश्यक है। जैनेन्द्र का प्रथम उपन्यास 'परख' 1929 ई. में आता है और उसके पश्चात् उनकी कीर्ति का स्तम्भ बन कर 'सुनीता' 1935 ई. में, तदनंतर

* पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला; संपर्क : 63 ए केशरबाग, पटियाला (पंजाब)

‘त्यागपत्र’ 1937 ई. में तथा ‘कल्याणी’ 1939 ई. में प्रकाशित होता है अर्थात् दस वर्षों के इस समय में जैनेन्द्र की धारणाएँ दाम्पत्य, विवाह-संस्था, स्त्री-पुरुष के प्रकृत सम्बन्ध, प्रेम और विवाह को लेकर पूरी तरह दृढ़ को चुकी थीं और बाद में ‘सुखदा’, ‘विवर्त’, तथा अन्य परवर्ती उपन्यासों में उसी दृष्टि का विस्तार या दुहराव दिखाई देता है, और यहाँ तक की बहुत बाद में ‘धर्मयुग’ में प्रकाशित उनकी चर्चित विवादास्पद टिप्पणी ‘पत्नी घर में, प्रेमिका मन में’ के समय तक उनकी यदि धारणा कायम रहती है। जिस एक दशक में जैनेन्द्र की ये औपन्यासिक कृतियाँ प्रकाश में आईं, उस समय परिवार के सन्दर्भ में स्त्री की क्या दशा थी, यह देखना भी कम महत्त्व का नहीं है। यह वह समय था तब ग्रामों में स्त्री-शिक्षा लगभग नहीं के बराबर थी, वहाँ धनियाँ, झुनियाँ, सोना, रूपा थीं। नगरों में आर्य-समाज, आदि के प्रभाव से नारी-शिक्षा प्रसार पा रही थी, नगरों का उद्योगीकरण और शहरीकरण नहीं हुआ था, नगरों में रहने वालों का भी ग्रामीण मानस था, उनके संस्कार अभी पूर्णतः ‘नागरीय’ नहीं हो पाए थे, दिल्ली में दरियागंज के साथ लगते दिल्ली-दरवाजे से आगे दिल्ली अभी लगभग नहीं थीं। गाँव और नगर दोनों में स्त्री-पुरुष को, पति-पत्नी को, यह इजाजत नहीं थी कि वे दिन के उजाले में एक-दूसरे का मुँह देखें या परिवार में बैठ कर अंतरंग बातों में प्रवृत्त हों। ऐसे समाज के बरक्स जैनेन्द्र जिस कुलीन-‘एलीट’समाज को अपने उपन्यास में प्रस्तुत करते हैं, उनकी स्त्रियाँ, सुशिक्षित हैं, बहुत शिक्षिता न हों तो भी वे बहुत विचारवान तो हैं ही। ‘परख’ की कट्टो सरल हृदया ग्रामीणा भले ही हो, वह खूब सूझवान और संस्कारी है, गरिमा की तरह सुशिक्षिता न हो कर भी, वह विचारों के स्तर पर उससे कम नहीं है। कल्याणी तो डॉक्टर है। इस प्रकार जैनेन्द्र का कथा-यथार्थ जीवन-यथार्थ से काफी दूर चला जाता है। यही कारण है कि जैनेन्द्र बहुत पढ़े जाकर भी प्रेमचंद के समान जनप्रिय न हो सके, केवल ‘अभिजन’ प्रिय बने रहे। उनके द्वारा चित्रित स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को समझने में प्रथम जटिलता यही है कि उनके पात्र बहुत-बहुत काल्पनिक, वायवी, हो कर रह गए हैं। पर, दूसरी ओर उपलब्धि, कहेँ महत् उपलब्धि यह है कि प्रथम बार वे विवाह संस्था को इस प्रकार प्रश्नांकित कर स्त्री-विमर्श की बहुत सार्थक पहल करते हैं। इस स्त्री-विमर्श, में नारी-विमर्श में, नारी-स्वातंत्र्य का स्वर कहीं तो इतना प्रबल और प्रखर है कि पिछले दस-पाँच वर्ष में चले स्त्री-विमर्श से किसी भी प्रकार कमतर नजर नहीं आता।

‘परख’ के सन्दर्भ में जैनेन्द्र कट्टो और बिहारी के बीच विवाह को ‘है भी’ और ‘नहीं भी’ के रूप में मानते हुए एक ऐसी जटिल दाम्पत्यगत स्थिति उत्पन्न करते हैं जिसमें विवाह एकदम अनावश्यक सिद्ध हो जाता है, आवश्यक है तो केवल भावात्मक रूप में एक-दूसरे से जुड़ाव, वे एक-दूसरे की भावनाओं का केन्द्र बने रहें, यही उनके लिए पर्याप्त है। सन्तति प्रदान करने वाले विवाह-सम्बन्ध को बिहारी और कट्टो एकदम नकारते हैं। अपनी इस धारणा के पोषण के लिए वे अपने पात्रों को बड़ी जटिल एवं अस्वाभाविक स्थिति में डाल देते हैं—‘रोमांस के सम्बन्ध को मैं भोग-सम्बन्ध

से सदा स्पृहणीय मानता आया हूँ।” किन्तु इस रोमांस को जिस रूप में उन्होंने सत्य, कट्टो और गरिमा के त्रिकू में उलझाया है, वह सामान्यतः समझ में नहीं आता, क्योंकि उसमें आद्यंत एक असहजता है। चौदह वर्षीया कट्टो से उसके मास्टर जी का धीरे-धीरे परवान चढ़ता प्रेम अचानक गरिमा के प्रेम के सम्मुख कैसे परास्त हो उठता है, यह इस सम्बन्ध की एक गुंजलक है। फिर जिस रूप में सत्य अपनी कट्टो को बिहारी को दे डालता है, वह भी कोई स्वाभाविक स्थिति नहीं है। ‘कट्टो के मर्म में दंश देना’ क्या सत्य के भाग्य में ही लिखा है, यह पश्चात्ताप सत्य से करा कर जैनेन्द्र शरत् चंद्रीय शैली में सत्य के पैरों का अश्रु-जल से अभिसिंचन करा कर, उसे कर्तव्यमुक्त कर देते हैं। गरिमा के पिता सत्य को उपदेशते हैं कि वह जीवन में प्रेम को ठीक से स्थान नहीं दे पाया है। यहीं प्रेम को विवाह से अलग रख कर विवाह को इस प्रकार परिभाषित किया गया है, “अब विवाह क्या है? विवाह बिल्कुल एक सामाजिक समस्या है, सामाजिक तत्त्व है। तुम भूलते हो, अगर तुम उसे और कुछ समझो। उन कुछ उत्तरादायित्वों से बँधे हैं, उन्मत्त होने के लिए विवाह का यही विधान है।” जैनेन्द्र यहाँ प्रेम को विवाह से अलग रखते हुए ‘विवाह में कुटुम्बियों की प्रसन्नता’ को भी महत्त्व देते हैं और इसी कौटुम्बिक प्रसन्नता के लिए सत्य अपने प्रेम को विवाह की परिणति नहीं दे पाता है।¹ सत्य मन से यह स्वीकार करता है कि ‘कट्टो की ओर’ वह ‘उस भाव से खिंच रहा है जिसे ‘प्यार’ कहते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध की जटिलता यह है कि प्रेम को जीवन में महत्त्वपूर्ण मान कर भी, मात्र उसे ‘एक भावावेग’ जो ‘पैदा होने और मिटने के लिए’ होता है मानते हुए उसे ‘अस्थायी’ करार दिया जाता है, जबकि विवाह को ‘एक टिकने वाला सत्य, दायित्व का अंश’ माना जाता है। सत्य, पुरुष की यह दृष्टि है तो कट्टो पूर्ण समर्पिता भाव से अपने सत्य की इच्छा-पूर्ति के लिए स्वयं को बिहारी के लिए समर्पित कर देती है। कट्टो इस विवाह में बिहारी के सान्निध्य में पूरी तरह अपनी सार्थकता पा जाती है—“आज मेरा विवाह पूर्ण हुआ। एकत्व सार्थक हुआ।”³ रईस पिता का पुत्र बिहारी ऐसी कट्टो से क्यों विवाह-सूत्र में बँध जाता है जो “सुन्दर नहीं है। पढ़ी-लिखी ज्यादा नहीं है। हम वह बँध गए हैं, मैंने उससे विवाह किया है।”⁴ इस प्रकार न केवल प्रेम के स्तर पर अपितु विवाह के स्तर पर भी इस सम्बन्ध में एक गुंजलक नजर आती है। बाद में तब और भी जटिलता नजर आती है जब कट्टो गरिमा के प्रति किसी भी प्रकार का असूया भाव न रख उसे जीजी रूप में स्वीकारती है। ‘परख’ में पारिवारिक सम्बन्धों की जटिलता का एक रूप यह भी उपन्यास के अंत में आता है, जब एडवोकेट भगवद्दयाल जी अपनी वसीयत में अपने दामाद सत्य को अपना दूसरा बेटा मानते हैं किन्तु उसे संपत्ति-अधिकार से वंचित रख सारी जायदाद बिहारी को ही दे डालते हैं। गाँधीवादी प्रभाव में बिहारी कट्टो को पैसे की प्यास से मुक्त कर जन-कल्याण का मार्ग अपनाने के लिए प्रवृत्त किया जाता है। इन पारिवारिक जटिलताओं के होते हुए भी ‘परख’ का ऐतिहासिक महत्त्व इस बात के लिए है कि वहाँ परिवार के केन्द्र में

स्वीकृत विवाह-व्यवस्था को प्रथम बार खुली चुनौती मिलती है और एक आध्यात्मिकप्लेटोनिकप्रेम को स्वीकृति!

‘सुनीता’ जैनेन्द्र का कीर्ति-शिखर, चर्चित उपन्यास, तो है ही, पारिवारिकता की परिधि में ही वे यहाँ अपना प्रेम सम्बन्धी दर्शन या सोच पूरी तरह विश्लेषित करते हैं। यहाँ दाम्पत्य में तीसरे की उपस्थिति या प्रवेश को तो वे स्वाभाविकता में चित्रित कर सके हैं किन्तु उनका आगे का सम्बन्ध जटिल है, उसमें कई प्रश्नचिह्न हैं जो अनुत्तरित रह जाते हैं। श्रीकांत का अपने बालसखा हरिप्रसन्न को इतना अधिमान देना तो बनता है कि उसे अपने परिवार में आ कर रहने के लिए कहे किन्तु जिस रूप में वह सुनीता की ओर बढ़ावा देता है, वह मानवीय स्वभाव के विपरीत जाता है। यहाँ भी श्रीकांत अपने पत्र में विवाह को एक सामाजिक संस्था और आवश्यकता बताते हुए हरी को लिखता है, “विवाह समाज की सृष्टि है, मनुष्य के भीतर प्राकृत रूप में वह नहीं है, लेकिन एक से दो होने की अपेक्षा, आवश्यकता जान पड़ता है मनुष्य के भीतर तक व्याप्त है। न कहो विवाह, कहो प्रेम। लेकिन आदमी अपने को पूरा नहीं पाता। दूसरे की अपेक्षा उसे है ही।”⁵ इससे पूर्व श्रीकांत के माध्यम से जैनेन्द्र का यह स्पष्ट स्वीकार है कि विवाह चाहे कितनी ही ‘रूढ़ संस्था’ क्यों न हो किन्तु ‘कुटुम्ब’परिवार इसी के सहारे टिका हुआ है। किन्तु, सुनीता और श्रीकांत के परिवार की समस्याएँ तब प्रारम्भ होती हैं जब वे ‘अपने जीवन और घर के किवाड़खिड़कियाँ खोल’ कर उसमें ‘खूब हवा आने-जाने’ और ‘हवा में जो अशुद्ध है उसे शुद्ध करके परास्त करने और जो शुद्ध है उसे अंगीकार करने’ के पक्षधर बन चलते हैं। श्रीकांत और सुनीता का दाम्पत्य स्वयं में जटिलता का उदाहरण बनता है। ‘विरला में विरल’, ‘अनिद्य सुन्दरी’, सुनीता श्रीकांत की पत्नी है, अच्छी वकालत के चलते कोई आर्थिक कष्ट भी नहीं है फिर क्यों इस दाम्पत्य में एक छूछापन है, रीतापन है। क्यों श्रीकांत “इधर दो-तीन वर्षों में इतने सहज रूप में सुनीता से वह एक भी बात शायद ही कभी कह पाया है।”⁶ पति-पत्नी सम्बन्धों के इसी बँधे जाल में हरिप्रसन्न की उपस्थिति की कंकड़ी डाल कर उसे आन्दोलित कर दिया जाता है। स्त्रियों के कभी भी विशेष संपर्क में न आया हरिप्रसन्न ‘स्त्री क्या है, पुरुष क्या है’ की समस्या में उलझने लगता है। सुनीता भी हरी के सान्निध्य में स्त्री-कर्तव्य की कल्पना इस रूप में करती है कि वह हरिप्रसन्न को ‘ऐसे ही न रहने दिया जाए’ नहीं तो ‘महाप्रकृति बंध्या’ की भूमिका में आ जाएगी। वह बहुत देर इस द्वैत में जीती है कि उसे हरिप्रसन्न की ओर बढ़ना है या नहीं। श्रीकांत उसे बार-बार हरी की ओर जाने के लिए प्रवृत्त करता है। हरी को प्रत्येक प्रकार से संतुष्ट करने के लिए सुनीता को उसके निर्देश आज भी पाठक को सुपाच्य नहीं हैं। पाप-पुण्य की नई परिभाषाएँ गढ़ते ये पात्र विवाह-दाम्पत्य की सीमा लॉघ प्रेम में बहने के लिए नई राह पर चल पड़ते हैं। हरिप्रसन्न कई बार भाभी सुनीता से ‘ब्याह’ की बात करते हुए अपना विवाह और पत्नी का प्रकल्प स्पष्ट करता है, “उस पत्नी से क्या होगा जो खाली पतिव्रता हो, मुझे चाहिए एक प्रतिभा भी, जो

पतिव्रता चाहे न हो, पर अटूट हो जो विपत्तियों में से ऐसे चमके जैसे घोर घन में बिजली। मुझे माता भी चाहिए, मुझे दासी भी चाहिए, लेकिन सबसे अधिक चाहिए मुझे वह जो स्फूर्ति की मंच हो, जिसमें प्रेम इतना हो कि वह हिंसा से डरे नहीं, जो लाल लहू बहता देखे, बहने दे, पर शान्ति का स्वप्न जिसका अखंड रहे। जो पताका उठाए और युवक जिसके पीछे लहू की नदियाँ पार करते हुए चले जाएँ...।” वह अपनी स्त्री के माध्यम से एक, ‘महोत्सर्ग’ देखना चाहता है, ‘महाप्राणता का आदर्श’ उसमें खोजना चाहता है। इस कथन का अन्तिम अंश हरिप्रसन्न पर थोपा गया लगता है जिसमें वह अपनी स्त्री को क्रान्तिकारी जीवन से जोड़ कर देखना चाहता है। प्रेम के मार्ग में प्रवृत्त हो आगे बढ़ चली सुनीता का यह व्यवहार जटिल और असामान्य लगता है जब वह श्रीकांत से आलिंगनबद्ध हो कर कहलाना चाहती है, “कहो, मैं तुम्हारी हूँ। कहां मैं तुम्हारी ही हूँ।” लगने लगता है कि यह सुनीता की प्रेम से टूटने पर दाम्पत्य में पुनः लौटने की पूर्व पीठिका बन रही है। धीरे-धीरे वह पूरी तरह प्रेम की ओर बढ़ जाती है, अपने दाम्पत्य को पीछे छोड़ कर।

श्रीकांत, सुनीता-हरिप्रसन्न के सम्बन्धों में द्वैत की वह जटिलता तब और देखी जा सकती है, जब वह हरी से प्रेम करने लगती है किन्तु श्रीकांत हरी से कहता है, “मेरे पीछे अपनी भाभी को जरा भी कम अपनी न समझना।” वह सुनीता को ‘पाते-पाते भी नहीं पा पाता है’ और हरी के निमित्त से ही ‘उन्हें अपने निकट पाने की’ कामना करता है। यह सम्बन्धों का कौन-सा रूप है जिसमें पति अपनी पत्नी को मित्र के माध्यम से ‘पाने’ की सोचता है। श्रीकांत का सुनीता से सम्बन्ध कई स्तरों पर जटिलता से भरा लगता है। एक ओर तो वह पत्नी को विवाह-संस्था से स्वतंत्र देखना चाहता है क्योंकि ‘विवाह और पत्नीत्व’ को वह ऐसी वस्तु मानता है कि इसमें “स्त्री अपना नाम भी खो दे और अमुक एक पुरुष के नाम को अपने ऊपर छत्र की भाँति ले कर उसके नीचे उसकी सम्पत्ति ही रहे?”⁸ दूसरी ओर वही पत्नी प्रेम-मार्ग पर बहुत आगे बढ़ने पर भी पुनः वह बाहर गए श्रीकांत के चित्र के सम्मुख अपने पति-समर्पण को स्मरण कर अपने को एक आश्वस्त देना चाहती है, “वह यहाँ नहीं भी हैं तो क्या? वह अत्यंत अभ्यंतर में सदा ही प्राप्त हैं।” सुनीता का यह व्यवहार न केवल मानव-स्वभाव के विपरीत लगता है अपितु उपन्यास के घटना-क्रम, कथा-विकास से संगति नहीं रखता है। ऐसा वह तब सोचती है जब हरी के पास से रात्रि के तीन पहर बीतने पर लौटती है और उससे पहले उसे जगाने के क्रम में शारीरिक-मानसिक रूप में उससे बहुत निकटता प्राप्त कर चुकी होती है। जब हरि उसे ‘पतिव्रता गृहस्थिन’ कहता है तो सुनीता को उसमें व्यंग्य ध्वनित होता प्रतीत होता है क्योंकि वह स्वयं प्रेम पर गृहस्थिन और पातिव्रत्य का निर्माक नहीं चढ़ाना चाहती। हरी और अपनी चर्चा में ‘उन’ (श्रीकांत) की उपस्थिति न ही सुनीता को स्वीकार्य है, न ही हरी को किन्तु, सुनीता का मन बार-बार हरी और अपने ‘उन’ के बीच ऊभ-चूभ होता रहता है। सुनीता की तरह ही हरी का ‘भाभी’ से प्रेमिका बनी सुनीता से व्यवहार द्वैत-भरा है।

वह प्रेम में दो पग आगे बढ़ाता है तो अगले ही क्षण दो या उनसे भी अधिक पग पीछे लौटाता है। अन्त तक वह इस द्वैत की स्थिति में झूलता रहता है। बाहुओं में आलिंगनबद्ध स्थिति, जंघा पर लिटाने की स्थितियों से आगे जब पूर्ण समर्पण के क्षण आते हैं, सुनीता के पूर्ण विवस्त्रा हो जाने पर भी वह भाग खड़ा होता है। उसके व्यवहार की यह अस्वाभाविक स्थिति, वह भी नारी के खुले आमंत्रण 'मुझे लो' की पुकार के सम्मुखदोनों चरित्रों के सम्बन्धों के जटिल बिंदु पर ला खड़ा करता है। इसके बाद भी लाहौर से लौटे श्रीकांत से सुनीता का यह स्वीकार "मैं तो सदा तुम्हारी हूँ, फिर छि: छि: मेरे लिए यह प्रेम आवेग कैसा?" किंचित् बेमानी-सा लगता है। इसे कितने ही मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के सहारे सही करा देने की चेष्टा की जाए किन्तु पति श्रीकांत का यह कथन, "आज क्या मैं नहीं जानता कि वह गाँठ उसके भीतर से निकालने में उपलक्ष्य तुम बनीं?" और इसके लिए पति का कृतज्ञता-प्रकाशनसब कुछ अस्वाभाविक बन इन सम्बन्धों को जटिलता में ले जाता है। श्रीकांत प्रेमातिरेक में अपनी 'नारी' को 'छलनामयी' कहता है सम्बन्धों को इस छल से ये चारों ही पात्र किसी न किसी रूप में ग्रसित हैं। हिन्दी के इस गौरवशाली उपन्यास की बहुत बड़ी उपलब्धि यह है कि यह स्त्री-विमर्श का न केवल गम्भीर दस्तावेज बनता है अपितु ऐसा विमर्श रचता है जिसकी अनुगूँज अभी तक उपन्यास और साहित्य के दूसरे इलाकों में सुनी जा सकती है।

'त्यागपत्र' की मृणाल और 'कल्याणी' की कल्याणी को अधिक पारिवारिक जटिलताओं से गुजरना पड़ता है। मृणाल अपने ढंग से प्रदत्त सामाजिक स्थितियों के प्रति विद्रोह करती है। कथा-नैरेटर प्रमोद अपनी बुआ को जिस रूप में देखता है, उससे परिचय मिलता है माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् किस प्रकार बड़े भाई की स्नेहिल छाया और भाभी के कड़े नियंत्रण में 'आर्य गृहिणी की धारणा के अनुरूप उसे टालने' के प्रयत्नों के बावजूद उम्र चढ़ते-चढ़ते सहेली शीला के भाई से उसका प्रेम, उसका प्रथम विद्रोह है। वह इस अनुशासित जीवन से परे एक 'चिड़िया होना चाहती है।' अपने नन्हें से परों से चिड़िया की तरह आकाश नापने का स्वप्न उसका भी है। अपने इस स्वप्न की कीमत भी उसे चुकानी पड़ती है, भाभी द्वारा बेंत से पिटाई के रूप में। पिटाई के बाद उसके चरित्र और व्यवहार में और भी जटिलता आ जाती है, उसकी हँसी गायब हो जाती है। वह परिवार में सबसे कट-सी जाती है, बड़े भाई के स्नेहिल व्यवहार से वह उल्लास में नहीं आती किसी से बात न किसी से कोई मतलब। दुहाजू अनमेल विवाह से आहत बुआ जीवित रहते भी मृत हो चली है, इसीलिए प्रमोद से वह कहती है 'तेरी बुआ तो मर गई। तू उसे कभी याद मत करियो।' मृणाल के वैवाहिक जीवन में जो जटिलताएँ आती हैं, उनकी अभिव्यक्ति प्रमोद के मानस से दी गई हैं। शीला के बड़े भाई से मृणाल का प्रेम-सम्बन्ध भी जटिलता-भरा है। वह उन्हें पत्र भेजती है पर यदि उनका 'कोई पैगाम आया' तो वह छत से कूद कर मरना श्रेयस्कर समझती है। उसका गिला यही है कि उसका प्रेमी उसे अस्थायी रूप में पाना चाहता है, उस कैद से निकाल पाने की जुगत और सामर्थ्य

उसमें नहीं है। अपने अप्रिय और असहनीय विवाह को भी तोड़ पाना मृणाल के वश में नहीं है क्योंकि "विवाह की ग्रंथि दो के बीच नहीं है, वह समाज के बीच की भी है। ..विवाह भावुकता का प्रश्न नहीं, व्यवस्था का प्रश्न है।"⁹ मृणाल की नियति यह बन गई है कि उसे यहाँ (मायके में) भी बेंत खाने पड़े हैं और वहाँ पति के भी। मृणाल के प्रेम की बात जान कर पति उसे 'खराब' मान कर बेंतों से मारते हैं किन्तु फिर भी वह अपनी ओर से विवाह को तोड़ नहीं पाती है। भाई का घर भी उसे अपनाते को तैयार नहीं है, पति विवाहेतर प्रेम की बात जान कर उसे घर से निकाल बाहर करता है। उसके बाद मृणाल की एक नई यात्रा शुरू होती है, सामाजिक दृष्टि से वह घृणा के योग्य ही हो किन्तु मृणाल इसमें अपनी निर्णय-स्वतंत्रता का सुख और गौरव प्राप्त करती है, "जिनको साथ लेकर पति को पीछे छोड़ आई हूँ, उनको मैं छोड़ दूँ!" वह उस व्यक्ति का साथ नहीं छोड़ना चाहती जो आड़े वक्त में उसका सहायक बन कर आया। "प्रमोद के बहुत-बहुत आग्रह और मनुहार पर भी वह अपने त्याज्य जीवन से मुक्ति का प्रयत्न नहीं करती। मौत से मुँह मोड़ कर 'वह जीने के संकल्प की ओर उन्मुख' होती है। उसका इस नए व्यक्ति से सम्बन्ध कितना जटिल है, इसकी व्याख्या में मृणाल के शब्दों का ही सहारा लेना होगा, "ऐसा त्रास मैंने बहुत कम भोगा है, उसका प्रेम स्वीकार करने की कल्पना भी दुर्विषय थी। पर उसका दायित्व क्या मुझ पर न था?...मैं उसके इस भ्रम को किसी भाँति न तोड़ सकी हूँ, उस पर मुग्ध हूँ, ऐसा करना क्रूरता होगी।"¹⁰ बुआ की यह धारणा उसके भजीजे प्रमोद को भी एक जटिल स्थिति में डाल देती है, वह निर्णय नहीं कर पा रहा है कि वह इस 'प्रगल्भा नारी को घृणा करना' चाहता है या 'उसके प्रति कृतज्ञ होना चाहता है।' मृणाल सामाजिक बंधनों को धता बता कर एक ऐसे पुरुष के साथ वहाँ रहती है, जहाँ नगर की सड़ांध रहती है, जो उसके भतीजे प्रमोद के जाने लायक जगह नहीं है किन्तु फिर भी उसका यह कथन कि "मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज टूटा कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे? या कि किसके भीतर बिगड़ेंगे?" मृणाल का चरित्र इस कथन के विपरीत जा कर एक प्रश्नवाची चिह्न छोड़ जाता है। उपन्यास का अन्त आते-आते गाँधीवादी दर्शन के प्रभाव में मृणाल अपने भतीजे के पैसे से उन समाज-बाह्य, सामाजिक दृष्टि से निकृष्ट लोगों का जीवन सुधारने का स्वप्न देखती है। 'रूप के जोर से नरक कुण्ड को स्वर्ग बनाने' की उसकी आकांक्षा है। वह मनुष्य को भीतर तक मनुष्य देखने की वांछा लिए हुए हैं। इस चरित्र की जटिलता यही है कि वह समाज को चुनौती भी देती है, उस व्यवस्था को तोड़ना भी नहीं चाहती किन्तु फिर भी उसके विपरीत आचरण करती है।

'कल्याणी' में परिवार को केंद्र में रख कर जैनेन्द्र अपने स्त्री-विमर्श को सबसे अधिक खुल कर अभिव्यक्ति देते हैं। डॉक्टर असरानी और उनकी पत्नी कल्याणी के सम्बन्ध बहुत जटिलतायुक्त हैं। स्त्री-स्वातंत्र्य की पक्षधर कल्याणी (और स्वयं जैनेन्द्र) कहीं-कहीं अपनी सोच और धारणा के अनुरूप आचरण नहीं कर पाती है। श्रीधर के माध्यम से कहलाया गया है, "हमारे समाज में स्त्री की दशा नाजुक है। अपनी ओर

से उस स्थिति को और विषम बना देना क्या क्षम्य हो सकता है?” लेकिन कल्याणी पति का अत्याचार सहती हुई भी उसे ठीक और अपने लिए ग्रहणीय मानती है। पति से खूब-खूब मार खा कर भी वह पति के विरुद्ध महिला-समिति या किसी और व्यक्ति का सहयोग नहीं लेना चाहती। महिला डेप्यूटेशन उसे घर-घर में हो रहे अत्याचार के रूप में लेता है और उसके प्रतिरोध की बात कहता है, पर कल्याणी को यह स्वीकार्य नहीं है। समाज में फैली इस ‘अनीति’ को रोकने में कल्याणी कोई सहयोग नहीं देती है। उपन्यासकार प्रतिशोध न कर सकने की स्थिति को ‘इकोनॉमिक डिपेंडेंस’ आर्थिक निर्भरताके कारण के रूप में देखता है। एक ओर सभी जगह स्त्री-स्वातंत्र्य की पक्षधरता तो दूसरी ओर पंडित जी से पत्नी को नियंत्रण में रखने के लिए पुरुष का दायित्व बताया गया है, अन्यथा वह ‘कापुरुषता’ होगीभले ही इसके लिए उसे ‘ताड़ना’ (शरीर पर आघात) तक ही क्यों न जाना पड़े। ‘पौरुष का अर्थ निरी शान्ति नहीं है’ भी कहलाया गया है। कहना न होगा कि यह स्थिति पति-पत्नी सम्बन्धों को एक जटिल स्थिति में पहुँचा देता है। ‘आर्य-नारी के रूप में’ स्त्री को गढ़े जाने का विरोध ‘त्यागपत्र’ की मृणाल भी करती हैं और कल्याणी ‘आर्य नारी के योग्य’ आचरण की हामी भर कर भी एक अलग राह चलते को कसमसाती है। विवाह संस्था की गरिमा और उससे नारी को मुक्ति दिलाने के प्रयत्न का यह द्वंद्व जैनेन्द्र में सर्वत्रा रहा है। यहाँ भी वे विवाह को यह गरिमापूर्ण स्थान देते हैं, “विवाह से स्त्री पत्नी बनती है। पत्नी याने गृहिणी। पत्नी से पहले स्त्री कुछ नहीं होती, बस वह कन्या होती है।” जैनेन्द्र गृहस्थी को परिवार और समाज की धुरी मानते हैं, “गृहस्थी उजाड़ कर जो समाज बनेगा, वह समाज नहीं लश्कर-कैप होगा।”¹² इसके विपरीत उनकी नारियाँ चाहे वह कट्टो है, चाहे सुनीता या मृणाल, या फिर कल्याणीसभी विवाह-बंधन तोड़ने के लिए कसमसाती हैं, कभी तोड़ भी पाती हैं, कभी नहीं भी किन्तु उनकी मूलभूत धारणा यही है, “स्त्री, पुरुष की संपत्ति नहीं हैं।”¹³ कल्याणी इस धारणा का सबल प्रतिरोध विचारों के स्तर पर करती है कि नारी विवश है, “...स्त्री गौ नहीं है, गौ बन कर ही उसने अपना स्वत्व गँवाया है।...स्त्री का बदला स्त्री लेगी।” पर कल्याणी का द्रन्द भी यही है कि वह एक कदम आगे बढ़ती है तो दूसरा पीछे खींच लेती है। कहानी का नैरेटर भी ‘उस नारी के द्वंद्व की तीक्ष्णता पर ‘हर्षित’ नहीं होता है। कल्याणी की विडम्बना है कि वह “जीवन को किसी तरह मृत्यु से कम विषम नहीं रहने देना चाहती है।” यह भी उसका द्रन्द या द्वैत ही है कि वह एक साथ ‘डॉक्टरों और ‘पातिव्रत्य’ निभा पाने में अपनी असमर्थता बताती है। ‘घर’ और ‘बाहर’ दोनों में एक साथ संगति न बिठा पाने के कारण वह असहज स्वभाव की होकर एक मनोरोगी के समान आचरण करने लगती है। अपने मन को मार कर वह डॉक्टर असरानी के मनसूवों को सफल बनाने के लिए प्रीमियर के स्वागत-सत्कार में लग जाती है। आपसी सम्बन्ध के निर्वाह में ही वह ‘मनुष्य और पशु का भेद’ देख पाती है, “सामाजिक नियमों का उल्लंघन उदासीन होकर नहीं देखा जा सकता। मर्यादाओं

की रक्षा आवश्यक है नहीं तो समाज बिखर जाएगा। मनुष्य और पशु में तब भेद नहीं रहेगा। आपसी सम्बन्ध में मर्यादा का निर्वाह हम जब तक करते हैं, तभी तक मनुष्य और पशु में भेद है।”¹⁴ किन्तु इतने संतुलित विचार वाली कल्याणी अपने सम्बन्ध को, अपनी गृहस्थी को, क्यों व्यस्थित रूप नहीं दे पाई, यह प्रश्न डॉक्टर असरानी को भी मथता है और पाठक को भी कि उनकी जिंदगी एक नरक बन कर रह गई है। वे विवाह को तोड़ इसलिए नहीं पाते कि बच्चों का प्रश्न है। बहुत पीड़ा से लिपटे हैं ये शब्द “बाल पकने को आए। झगड़ा कब तक चलेगा! कैसे ऐसे जिंदगी निभेगी।” डॉक्टर को ‘कलख यही है’ कि ‘कल्याणी का मन नहीं मिलता।’ इन सारे प्रश्नों के समाधान से निकलने का एकमात्र मार्ग जैनेन्द्र को यही सूझता है कि मृणाल के समान कल्याणी को भी वे गाँधी के पीछे चला कर ‘भारतीय तपोवन’ की प्रस्थापना में लगा देते हैं। इस प्रकार कल्याणी का परिवार भी एक जटिलता में ही जीता है। वस्तुतः इन सभी उपन्यासों में पारिवारिक जटिलताएँ व्याप्त हैं जिनके स्तर दो हैं—एक पाठक के लिए कि उन्हें कुछ स्थितियों और पात्रों का रूप जटिल लगता है, वह उन्हें सहज स्वीकार्य नहीं हो पाता और दूसरा, ये पात्र अपना सम्बन्ध-वृत्त इतना जटिल बना बैठते हैं कि ये आगे का रास्ता खोज नहीं पाते—एक आदर्शवादी समाधान के तहत जीवन से पलायन करते हैं। पुनः पुनरावृत्ति की जोखिम उठा कर भी, कहा जाए तो जैनेन्द्र के इन उपन्यासों की महत्ता इस बात में है कि वे हिन्दी कथा-साहित्य में बिलकुल नए रूप में परिवार, विवाह-संस्था और प्रेम के विषय में प्रकृत रूप से सोचते हुए हिन्दी कथा-साहित्य को वयस्कता प्रदान करते हैं।

सन्दर्भ

1. ‘परख’ (सं. 2005), पृ. 46
2. वही, पृ. 81
3. वही, पृ. 93
4. वही, पृ. 99
5. ‘सुनीता’ (सं. 1988), पृ. 14
6. वही, पृ. 36.
7. वही, पृ. 148-149.
8. वही, पृ. 44
9. ‘त्यागपत्र’ (सं. 1986), पृ. 24.
10. वही, पृ. 58.
11. वही, पृ. 63.
12. ‘कल्याणी’ (सं. 1998), पृ. 38 तथा पृ. 70.
13. वही, पृ. 100.
14. वही, पृ. 71

साहित्य और राजनीति की देवियाँ

शत्रुघ्न प्रसाद*

मैं सरोजिनी नायडू, सुभ्रदा कुमारी चौहान, सुचेता कृपलानी, महादेवी वर्मा आदि की चर्चा नहीं कर रहा हूँ। ये तो भारतीयता और मानवता के लिए समर्पिता रही हैं। मध्ययुग की पद्मिनी, दुर्गावती, जीजाबाई और लक्ष्मीबाई की भी चर्चा अनावश्यक है। परन्तु आधुनिक युग की प्रगतिवादिता की प्रतिमान देवियों की चर्चा के लिए उनका स्मरण आवश्यक है। प्रगति युग और सेकुलर युग की देवियों ने अपनी वाणी, लेखनी और गतिविधियों से नए भारत यानी 'न्यू इंडिया' के निर्माण में अपना पूर्ण समर्पण दिखा दिया है। आज के साहित्य और राजनीति के क्षेत्र में इनके सशक्त व्यक्तित्व का अमिट प्रभाव दृष्टिगोचर हो रहा है। हम इन देवियों की उपेक्षा नहीं कर सकते। सत्ता राजनीति की सेकुलर रणनीति के वातावरण में इनकी वाम-इस्लामवादी जुगलबन्दी का संगीत गूँज रहा है। चर्च की राजनीति इस जुगलबन्दी के साथ हो जाती है। फलतः हमारा शास्त्रीय संगीत और लोकसंगीतदोनों विकल हो उठते हैं।

देवियों की चर्चा एक सीमा तक सशक्त नारी विमर्श भी है।

प्रथम महान् लेखिकाअफसाना नवीस जन्तनशीन कुर्रतुल एन-हैदर हैं। उन्होंने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'आग का दरिया' में सन् 1947 ई. के बाद के भारत को हिंदुस्तान में रह रहे मुसलमानों के लिए आग का दरिया सिद्ध कर दिया है। नेहरू युग के भारत पर उनके आरोप हैं कि मुसलमान सन्देह की नजर से देखे जाते हैं। उनकी भाषा उर्दू दबाई जा रही है। शिक्षा की दृष्टि से वे पिछड़े हैं। जो योग्य हैं, उन्हें नौकरी नहीं मिल पाती। मुसलमानों की गरीबी बढ़ती जा रही है। इसलिए उपन्यास का नायक पाकिस्तान पलायन करना चाहता है। निःसंदेह उपन्यास की कला प्रशंसनीय है।

चूँकि सेकुलर नेहरू जी के हिन्दुस्तान पर इतने आरोप लगाए गए हैं, इसलिए 'आग का दरिया' इस महान् देश में पुरस्कृत हुआ। मुझे लगता है कि सच्चर समिति

* शत्रुघ्न प्रसाद, त्रिपाठी भवन, राजेंद्र नगर, पथ-13 ए, पटना16

और रंगनाथ मिश्र समिति के सामने इस पुरस्कृत उपन्यास के आरोप खड़े थे। सवाल कर रहे थे। इसलिए इन समितियों ने उनके सवाल के जवाब में अपनी अनुशांसाएँ प्रस्तुत कर दी हैं। सेकुलर, वामपंथी और जातिवादीसभी नेता इन अनुशांसाओं का पालन करने के लिए बेताब हैं। कब्र में आराम फरमाती लेखिका की रूह को जरूर शान्ति मिलेगी, भले ही भारत की राजनीति में उथलपुथल हो जाए।

दूसरी महान् लेखिका केरल की अरुंधति राय हैं। इनके अंग्रेजी में लिखित उपन्यास पर बुकर सम्मान प्राप्त हो चुका है। अतः रातोंरात ख्यात हो चुकी हैं। इधर इनकी राजनीतिक गतिविधि बढ़ गई है। यह वाम साहित्य की राजनीति हैयह स्मरण रहे, इन्होंने डेढ़-दो वर्ष पहले श्रीनगर में जाकर मुस्लिम अलगाववादियों की सभा में कश्मीर के अलगाव का समर्थन किया था और वाहवाही लेकर लौटीं। अब वे नक्सली हिंसा का समर्थन कर रही हैं। 'वाकिंग विद द कामरेड्स' नामक पुस्तिका लिखी हैदन्तेवाड़ा में रहकर। वामपंथी पत्रिकाओं में इसका सारांश छप गया है। इन्होंने मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के क्रान्तियुग की मान्यताओं के अनुसार एलान किया है कि भारत सन् 1947 से ही एक औपनिवेशिक शक्ति है जिसने दूसरे पर सैनिक आक्रमण करके उनकी जमीन हथिया ली है, जैसे आदिवासी क्षेत्र नक्सलवादियों के हैं। इन पर भारत ने अवैध कब्जा किया हुआ है। अपरकास्ट हिन्दू स्टेट ने मुस्लिमों, ईसाइयों, सिक्खों, दलितों और आदिवासियों के खिलाफ युद्ध छेड़ रखा है।

वे झूठे आरोपों के संजाल में इस देश को लपेट कर भी मुक्त हैं। इस साहित्य-राजनीति की देवी ने तो स्पष्टतः भारत के संप्रभुतासंपन्न लोकतंत्र पर सीधा आक्रमण कर दिया है। यह स्पष्टतः देश को तोड़ कर नक्सली हिंसा को प्रोत्साहन हैसत्ता पलट के लिए। यह चीन की योजना के अनुसार हो रहा है। अरुंधति एक ओर मजहबी अलगाव का समर्थन करती हैं तो दूसरी ओर वनवासी क्षेत्रों की गरीबी के नाम पर इंकलाबविध्वंसछापामार युद्ध के साथ हो जाती हैं। यह तो प्रामाणिक रूप में वाम-इस्लाम दुरभिसंधि का बौद्धिक सर्कस है।

तीसरी प्रसिद्ध लेखिका हैंअलका सरावगी। इन्होंने अपने प्रथम उपन्यास 'कलिकथा वाया बाईपास' से ही प्रसिद्धि पा ली है। अपने सफल उपन्यास में कोलकाता के विकासक्रम को अपने परिवार के माध्यम से दिखाया है। इसके अध्याय 14 में सन् 1947 के 16 अगस्त के लीग के डायरेक्ट एक्शन यानी भीषण दंगे का विवेचन है। उस समय बंगाल में मुस्लिम लीग के हसन शहीद सुहरावर्दी का शासन था। उसी की देखरेख में सीधी कार्रवाई का कार्यक्रम आयोजित था। भारत सरकार के प्रकाशन से प्रकाशित श्री ए.सी. गुहा की पुस्तक में स्वाधीनता आन्दोलन का प्रामाणिक वर्णन है। कलकत्ते के अखबारों के विवरण हैं। इनके बदले सरावगी ने अध्याय 14 में दंगे की पूरी जिम्मेदारी हिन्दू संगठनों पर डाल दी है। साथ ही सरदार पटेल को भी दोषी सिद्ध किया है। सरावगी ने इतिहास के सच को झूठ सिद्ध कर

दिया है। सही यही है कि लीगी शासन ने सशस्त्र जुलूस और सभा के बाद हिन्दुओं पर हमले कराए थे। तीसरे दिन से हिन्दू सिक्खों ने प्रतिशोध लेना आरम्भ किया। अतः पूरी सफलता के लिए नोआखाली में हिन्दुओं का कल्लेआम हुआ। और फिर दंगों का सिलसिला बढ़ चला। परिणाम हुआविभाजन जो मुस्लिम लीग चाहती थी। पर वाम राजनीति की साहित्यिक दृष्टि सच को सह नहीं सकती। सच को झूठ और झूठ को सच कर देना वाम रणनीति है।

अब फिल्मी कलानेत्रीप्रसिद्ध अभिनेत्री शबाना आजमी की चर्चा आवश्यक है। यह सर्वविदित है कि शबाना जी भारत की सम्मानित अभिनेत्री, गीतकार जावेद अख्तर की बीवी और समाजसेविका हैं। मीडिया, शासन और जनता सबने इन्हें सम्मान प्रदान किया है। परन्तु इन्होंने भारत द्वारा प्रदत्त सम्मान को भूलकर इस्लामी राजनीति के मंच पर आसन जमा लिया। इन्होंने पिछले वर्ष ही 'वन्देमातरम्' को विवादास्पद घोषित कर मुसलमानों को कुछ इशारा कर दिया। यह सेकुलरवाद या मुस्लिम लीगीवाद है। वे इससे भी आगे बढ़ गई हैं। जेहादी आतंकवाद के मशहूर अड्डे आजमगढ़ को 'आतंकगढ़' के आरोप से मुक्त कर दिया। इन दोनों कथनों से स्पष्ट हो गया है कि फिल्मी अभिनेत्री शबाना आजमी मूलतः और अन्ततः कट्टर मुस्लिम हैं। ये अलगाववादी पहचान की मुस्लिम राजनीतिक के साथ हो गई है यह चिंता का विषय है।

एक पुराना प्रसंग स्मरण हो रहा है। मशहूर अफसानानवीस आपा इस्मत चुगताई को जीवन के अन्तिम अध्याय में पुनर्जन्म व हिन्दू दर्शन पर थोड़ा विश्वास हो गया था। उन्होंने वसीयत में विद्युत शवदाह गृह में अपनी अंत्येष्टि की चर्चा कर दी थी। अखबारों के अनुसार महान् अभिनेता दिलीप कुमार या शबाना आजमी या अन्य कोई मुस्लिम जनाजा में शामिल नहीं हो सका था। लोकप्रिय एवं प्रगतिशीलों का यह चरित्र रहा है।

तिस्ता शीतलवाड यानी तिस्ता जावेद शीतलवाड ने अपनी वाम-इस्लाम संधि की सियासत से प्रसिद्धि पा ली है। ये पिछले नौ वर्षों से किसी एन.जी.ओ और मीडिया के सहयोग से गुजरात के सबल और योग्यतम मुख्यमंत्री श्री नरेंद्र मोदी पर झूठे आरोपों और मुकदमों से आक्रमण कर रही हैं। हर बार इनकी पराजय हुई है। पर गोरी के समान हार मानने को तैयार नहीं हैं। कारण है कि तिस्ता ने वाम-इस्लाम राजनीति के अनुसार एक सबल हिन्दू राजनेता को कमजोर करना और हिन्दू राष्ट्रवाद को दुर्बल कर देना अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया है। इसलिए ये निरंतर षड्यंत्र कर रही हैं। हर बार इनका षड्यंत्र विफल हो रहा है। पर वाम-इस्लाम दृष्टि से इनका उद्देश्य 'महान्' है। भारत को सावधान होना है। क्या हम सावधान हो रहे हैं? मीडिया भी ऐसे षड्यंत्र के उद्घाटन में सफल नहीं है या उसकी रुचि नहीं है।

आजाद हिंद फौज की लक्ष्मी सहगल को याद करें। नेताजी सुभाष की सेना की एक सेनानी को हमने कितना आदर दिया था। स्मरण होगा ही। बाद में लक्ष्मी सहगल देश में परिवर्तन के लिए मार्क्सवादी बन गई। इन्हीं की पुत्री हैंसुभाषिणी सहगल। ये प्रसिद्ध फिल्म डायरेक्टर मुजफ्फर अली की तीसरी बीवी हैं। वे दो अन्य हिन्दू बीवियों को छोड़ चुके हैं। तीसरी बीवी सुभाषिणी अली कहलाने लगीं। मार्क्सवादी भी हो गईं के आशीर्वाद से। ये कानपुर से चुनाव भी लड़ चुकी हैं। मार्क्सवादी सुभाषिणी अली ने अपने संस्कारों के कारण राम की जन्मभूमि पर असांस्कृतिक वक्तव्य भी दे दिया था। बंगाल के नंदी ग्राम और सिंगूर के किसानों के अविराम संघर्ष के खिलाफ अपनी लेखनी से बंगाल की मार्क्सवादी सरकार के दमन का समर्थन किया है। यह है मार्क्सवादी लेखनी के चमत्कार। याद रहे कि इनमें वामचिंतन के साथ मुस्लिम पति का प्रभाव भी काम कर रहा है जैसे तिस्ता जावेद शीतलवाद में। इसीलिए ये दोनों देवियाँ अल्पसंख्यकों की दुर्दशा और स्त्री स्वातंत्र्य पर लिखने वाली निर्भीक तस्लीमा नसरीन का समर्थन नहीं करती हैं। यह सेकुलर जनतंत्र तस्लीमा को भारत से दूर कर देता है। पर भारत के विरुद्ध लिखने वाली को पूरी आजादी दे देता है। शायद यही सेकुलरवाद है।

अन्त में लखनऊ की माधुरी गुप्ता की चर्चा आवश्यक है। वे भारतीय विदेश सेवा की प्रमुख अधिकारी के रूप में लाहौर में रहकर पाकिस्तान के लिए जासूसी कर रही थीं। अपने देश को धोखा दे रही थीं। यह तो खोज का विषय है कि माधुरी ने लोभ के वश ऐसा देशापराध किया या किसी पाकिस्तानी के प्रेमजाल में फँस कर। एक तीसरा कारण भी हो सकता हैजाति और धार्मिक कर्मकाण्ड में निष्ठा रखने वाले महान् हिन्दू देश के प्रति निष्ठा नहीं रख पाते। ऐसे महान् लोग जयचन्द्र और जय सिंह की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। ऐसों की संख्या बढ़ती जा रही है। यह घोर चिंता का विषय है।

ऐसी सशक्त देवियों को नमन करन है या सावधान रहना हैयह तो जागृत भारतीय जन को निर्णय करना है।

21वीं सदी के हिन्दी दलित लेखकों के सामने चुनौतियाँ

* सुनील बाबुराव कुलकर्णी

भारतीय साहित्य के आधुनिक परिप्रेक्ष्य में, हिन्दी साहित्य के अंतर्गत दलित शब्द, कुछ नया और मुख्य साहित्यिक धारा से हटा हुआ लगने पर भी, भारतीय सामाजिक इतिहास के सन्दर्भ में चिर-परिचित रहा है। पचास के दशक के बाद सबसे पहले महाराष्ट्र में इस शब्द का प्रयोग हुआ था, जिसके मूल में साहित्य नहीं दलितों की स्थिति के उन्मूलन का क्रान्तिकारी चिन्तन था। लेकिन धीरे-धीरे यह शब्द साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आन्दोलन की महत्वपूर्ण इकाई बन गया।

आज साहित्य के हर एक विधा में उसने अपना अस्तित्व सिद्ध कर, केवल लोगों का ध्यान ही आकर्षित नहीं किया बल्कि उस पर सोचने, लिखने एवं उसकी समीक्षा करने पर भी मजबूर कर दिया है। अल्पावधि में इस साहित्यिक चेतना ने जो विकास किया है वह निःसंदेह प्रशंसनीय है। परन्तु समयानुरूप प्रगति साधने के लिए इसे अपनी वैचारिक पृष्ठभूमि को, स्तरीय साहित्य निर्मिति को और अधिक व्यापक एवं गतिशील बनाना होगा। जहाँ उसे एक ओर दलित मुक्ति आन्दोलन को नई दिशा प्रदान करनी है वहीं दूसरी ओर अपने साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए उच्च स्तरीय समीक्षा के मानदण्ड भी विकसित करने होंगे। तभी यह साहित्य आन्दोलन विश्व के दलित साहित्य को एक नई दिशा प्रदान कर सकता है। इसी मंशा के साथ 21 वीं सदी के हिन्दी दलित लेखकों के सामने कौन-कौन सी चुनौतियाँ हैं, इस पर निम्न मुद्दों के आधार पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है

1. व्यापक वैचारिक पृष्ठभूमि
2. आन्दोलन की नई दिशा

* डॉ. सुनील बाबुराव कुलकर्णी, अधिव्याख्याता, हिन्दी, तुलनात्मक भाषा एवं वाङ्मय विभाग, उत्तर महाराष्ट्र विश्वविद्यालय, जलगाँव

3. स्तरीय साहित्य निर्मिति

4. समीक्षा के स्तरीय मानदण्ड

इन्हीं चुनौतियों को आधार मानकर प्रस्तुत आलेख में इसका विश्लेषण किया गया है।

1. व्यापक वैचारिक पृष्ठभूमि

ऐसा माना जाता है कि दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि भगवान गौतम बुद्ध, महात्मा ज्योतिबा फूले, राजर्षि शाहू महाराज और बाबासाहेब आंबेडकर जी के पावन विचारों से पुनीत है। उसके साहित्य सृजन के मूल में आंबेडकर जी की चिंतनधारा मुख्य रूप में कार्यरत है। डॉ. रणसुभे यह मानते हैं कि “बाबासाहेब दलित साहित्य के न केवल प्रेरणास्रोत हैं अपितु इस साहित्य का प्रस्थान बिन्दु ही उनकी विचारधारा है।”¹ बाबासाहेब की संपूर्ण विचारधाराओं का सूक्ष्म अवलोकन करने के पश्चात् यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि उनकी विचारधारा विश्व व्यापक ही है। उनकी दलित चेतना की अवधारणा में इन सबकी चेतना है, जो दलित हैं, पीड़ित हैं, व्यथित हैं, श्रमिक हैं, जो किसी न किसी कारण प्रस्थापितों के द्वारा नकारे गए हैं।² बाबासाहेब ने सदैव एक नई समाज व्यवस्था का स्वप्न देखा था। ऐसी समाज व्यवस्था का जिसमें मनुष्य की पहचान मनुष्य के रूप में हो। क्या उनका यह स्वप्न हमें कहीं पर सिद्ध होते दिखाई देता है? आज भी ऐसा लगता है कि हम उनके इस स्वप्न से कोसों दूर हैं।

दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि को विश्वव्यापक बनाने के लिए क्या मार्क्सवाद को उसके साथ जोड़ना संयुक्तिक है? इस सन्दर्भ में प्रारम्भ से ही मतभेद दिखाई देते हैं। एक समूह उसे जोड़ने के पक्ष में है तो दूसरा नहीं जोड़ने के पक्ष में। इस पर प्रकाश डालते हुए शरणकुमार निम्बाले ने अपने ‘नरवानर’ उपन्यास में लिखा है “दलित सिर्फ अछूत ही नहीं हैं, वे गरीब भी हैं अगर हम सम्पूर्ण क्रान्ति चाहते हैं, तो सामाजिक संघर्षों के साथ-साथ वर्ग संघर्ष भी करना होगा। लेकिन उपन्यास के एक पात्र कोकिल जैसे दलित युवक का विचार है “दलित आन्दोलन को वर्ग संघर्ष की दिशा में ले जाना गलत है।”³ डॉ. रणसुभे जी का भी मत है कि “मार्क्स को स्वीकारने के सन्दर्भ में गम्भीर मतभेद हैं। एक वर्ग आंबेडकरवादियों का है जो केवल आंबेडकर के विचारों को ही प्रमाण मानते रहे हैं।”⁴ मुझे लगता है कि यह दृष्टिकोण संकुचित वृत्ति का परिचायक है। आंबेडकर के विचार अपने आप में महान् हैं, किसी भी युग की समस्याओं से उभरने की क्षमता उनमें है। पर उनसे परे होकर न सोचने से दृष्टिकोण भी घातक सिद्ध हो सकता है। इस पत्रिका में एक पाठक रमेश निर्मल के लेख पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए अजित राय लिखते हैं “सच्चे अर्थों में वही दलित लेखक हो सकता है जो आंबेडकर तक न रुके मार्क्सवाद तक जाए, वरना वह आधा-अधूरा होगा।”⁵

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि को विश्वव्यापक बनाने के लिए आंबेडकर के अतिरिक्त मार्क्सवाद तथा दलित उत्थान के लिए विश्व में स्थित किसी भी सिद्धांत को स्वीकारना गैर नहीं होगा।

आन्दोलन को नई दिशा

प्रारम्भ से ही दलित मुक्ति के संघर्ष में आन्दोलनों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। परन्तु प्रारम्भ में बाबासाहेब का यह दलित मुक्ति आन्दोलन किसी वर्ण या जाति के विरोध या द्वेष पर आधारित नहीं था। परन्तु आज इस आन्दोलन को एक जाति तक, एक वर्ण तक सीमित रखने का प्रयास पूरी धूर्तता के साथ हो रहा है। उनकी तस्वीर ब्राह्मण विरोधी के रूप में उभारने की कोशिश जानबूझकर की जा रही है। “इसके मूल में वर्ण विरोध होता तो यह साहित्यिक आन्दोलन सबसे पहले तमिल में शुरू हो जाना चाहिए था।”⁶ पर ऐसा हुआ नहीं। उसकी पहली चिनगारी महाराष्ट्र में उठी इसके पीछे भी यह वजह दिखाई पड़ती है कि आंबेडकर की कर्मभूमि महाराष्ट्र थी। उनके पहले फुले, शाहू ने यहाँ बहुत कार्य किया था। लेकिन आंबेडकर की मृत्यु के बाद यह आन्दोलन अब बिखर रहा है। हर एक नेता, जो अपनी सत्ता एवं महत्वाकांक्षा के लिए हर हाल में दलित आन्दोलन पर एकाधिकार चाहते हैं, हर एक समूह टुकड़ों में बँट रहा है। किसी ने अपने संघ को दलित मोर्चा नाम दिया, तो किसी ने रिपब्लिकन युवक, किसी ने बाबासाहेब आंबेडकर स्टुडेंट्स एसोशिएशन, तो किसी ने रिपब्लिकन स्टुडेंट्स एसोशिएशन। इसके अलावा गली, मुहल्लों, बस्तियों और चौराहों के भी अपने अपने संगठन हैं। दुःख इसी बात का है कि इनका कोई एक मंच नहीं है। शरणकुमार लिम्बाले लिखते हैं, “बाबासाहेब आंबेडकर के निधन के पश्चात् दलितों का कोई पालनहार नहीं रहा। घर का मुखिया चल बसने पर घर की जो बुरी हालत हो जाती है, वैसी दशा हमारे समाज की हो गई है।”⁷ इस बिखरे हुए अथवा बिखर रहे आन्दोलन को लेखकों द्वारा एक सकारात्मक दिशा प्रदान की जानी चाहिए। बाबासाहेब के मूल सिद्धांतों से, स्वप्नों से उन्हें अवगत कराना होगा। बौद्ध तत्त्वज्ञान का अन्तिम लक्ष्य क्या है? इसका ज्ञान कराना होगा। तभी जाकर यह आन्दोलन भारत के ही नहीं विश्व के सभी दलितों की मुक्ति कराने में कामयाब होगा।

स्तरीय साहित्य निर्मिति

हिन्दी में दलित साहित्य का सृजन आठवें और नवें दशक से होने लगता है। प्रेमचंदजी की ‘दूध का दाम’, ‘ठाकुर का कुआँ’, ‘सद्गति’ तथा ‘कफन’ जैसी कहानियाँ दलित चेतना की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति करती हैं। फिर उसके बाद 1975 में दलित कथा से हिन्दी को परिचित कराने का श्रेय कमलेश्वरजी को जाता है। आज हिन्दी साहित्य की कहानियों में ओमप्रकाश वाल्मीकि, डॉ. प्रेमशंकर, जयप्रकाश कर्दम,

दयानंद बटोही, मोहनदास नैमिषराय, जैसे उँगलियों पर गिने जाने वाले लेखकों के नाम लिए जा सकते हैं। जो अवस्था कहानी की है वही लगभग कविता, आत्मकथा और उपन्यास की है।

स्वानुभूति और सहानुभूति में किसे दलित साहित्य माना जाए यह विवाद भी निरंतर बढ़ रहा है। आज दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को वाणी दी है। जीवन संघर्षों में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उसी अभिव्यक्ति का साहित्य है। केवल भारती के शब्दों में “वास्तव में दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की कोटि में आता है।”⁸ यहाँ सहानुभूति के साहित्य को दलित साहित्य नहीं माना जाता तथा उसे दलित साहित्य की कोटि में नहीं रखा जाता। दलित साहित्य का सूक्ष्म अवलोकन करने के पश्चात् अमरनाथ ने तीन धाराओं का वर्णन किया है। पहली धारा स्वयं दलित जातियों में जन्में लेखकों की है। जिनके पास स्वानुभूतियों का विशाल भंडार है और वे मानते हैं कि वास्तविक अर्थों में उन्हीं का सृजन दलित साहित्य है। दूसरी धारा अन्य लेखकों की है, जिनके रचना संसार में दलितों का चित्रण सौंदर्य सुख के विषय के रूप में होता है। तीसरी धारा प्रगतिशील लेखकों की है जो दलित को सर्वहारा वर्ग की स्थिति में देखते हैं।⁹

उपर्युक्त तीनों धाराओं में विभाजित साहित्य का मूल्यांकन करने पर भी यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई देती है कि कुल मिलाकर हिन्दी में दलित साहित्य अत्यल्प मात्रा में है। कहानी और आत्मकथा में थोड़ी बहुत वृद्धि हो रही है पर उसे भी समाधानकारक नहीं माना जा सकता। आज आवश्यकता है स्तरीय साहित्य निर्मिति की। वह अनुभूति का हो या सहानुभूति का जिस तरह मराठी साहित्य में दलित चेतना ने अपना अस्तित्व सिद्ध कर लोगों को प्रभावित किया, उसी उरह हिन्दी के दलित लेखक भी उच्च स्तरीय साहित्य निर्मित कर अपना अस्तित्व सिद्ध कर सकते हैं। उनके लिए केवल आवश्यकता है निःसंकोच वृत्ति से अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति की। एक आध दूसरे को छोड़कर आज हिन्दी में स्वयं को ‘दलित लेखक’ कहलाने की हिम्मत किसी में नहीं दिखाई देती। मराठी साहित्य में यह भावना आपको कहीं पर भी नहीं दिखाई देगी। क्योंकि मराठी में दलित साहित्य को अब प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि स्तरीय साहित्य निर्मिति के लिए हिन्दी दलित लेखकों को मराठी वालों का आदर्श ग्रहण करना चाहिए।

समीक्षा के उच्च स्तरीय मानदण्ड

हिन्दी दलित लेखकों के द्वारा बार-बार यह आरोप लगाया जाता रहा है कि आलोचना के सन्दर्भ में उनके साहित्य को न्याय नहीं मिल रहा है। इसी धारणा के परिणामस्वरूप हिन्दी दलित लेखकों में यह भाव पनप रहा है कि हमें अपना एक अलग समीक्षाशास्त्र या सौन्दर्यशास्त्र विकसित करना चाहिए। ओमप्रकाश वाल्मीकि

और शरणकुमार लिम्बाले द्वारा ऐसा प्रयास किया भी गया है। वह कितना फलीभूत होगा यह आनेवाला काल ही बताएगा। लेकिन इन दोनों किताबों के सन्दर्भ में और दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र के सन्दर्भ में शिवकुमार मिश्र जी से सवाल पूछा गया तो उन्होंने लिखा “जहाँ तक साहित्य या उसके सौन्दर्यशास्त्र की बात है, शास्त्र के पहले रचना या सर्जना होनी चाहिए। रचना या सर्जना की बुनियाद पर शास्त्र की इमारत खड़ी होती है। रचना या सर्जना जितनी सूक्ष्म बहु आयामी तथा उन्नत होगी उसके आधार पर बना शास्त्र भी उतना ही सर्वाश्लेक्षी बहुआयामी, सूक्ष्म तथा उन्नत होगा।”¹⁰ मिश्र जी के विचारों से हम पूरी तरह सहमत हैं। स्तरीय रचना के पहले ही हम समीक्षा के मापदण्ड निश्चित करेंगे तो यह जल्दबाजी होगी। डॉ. धर्मवीर द्वारा ऐसा प्रयत्न हुआ, पर उनकी आलोचना पूर्वग्रह दूषित एवं बाल की खाल निकालने का प्रयास मात्र है।

उपर्युक्त चारों चुनौतियों का यथावकाश विवेचन करने के पश्चात् हमने निम्न निष्कर्ष निकाले हैं :

1. दलित साहित्य के वैचारिक पृष्ठभूमि को व्यापक बनाने के लिए आंबेडकर के साथ-साथ मार्क्सवाद को जोड़ना सम्मत होगा।
2. दलित विमर्श के केन्द्र में वे सारे सवाल हैं, जिनका सम्बन्ध भेदभाव से है, चाहे वे भेदभाव जाति के आधार पर हों, रंग के आधार पर हों, नस्ल के आधार पर हों या लिंग के आधार पर हों या फिर धर्म के आधार पर ही क्यों न हों।
3. सृजन में हमें विगत में जातीय चेतना, वर्तमान में दलित चेतना और भविष्य में विश्व चेतना की कथाएँ, कविताएँ, नाटक, उपन्यास एवं निबंध लिखने होंगे।
4. आन्दोलन के क्षेत्र में आंबेडकर जी का दिन-ब-दिन भगवाकरण हो रहा है। उसे देखकर मूर्तियों एवं पुतलों को संजोने के बदले उनके विचारों से प्रेरणा लेकर आगे बढ़ेंगे।
5. समीक्षा के उच्च स्तरीय मानदण्ड तो हमें विकसित करने ही हैं पर उसकी जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए।

सन्दर्भ

1. डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे, आधुनिक गद्य साहित्य का इतिहास
2. संचारिका, अप्रैल/मई/जून 2005
3. नया ज्ञानोदय, दिसंबर 2006
4. हंस, मार्च 2006
5. हंस, जुलाई 2006

सूचना प्रौद्योगिकी में नागरी लिपि के धीमे कदम

ओम विकास*

1983 में तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन का आयोजन दिल्ली में हुआ था। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने इसका उद्घाटन किया था। हिन्दी में कम्प्यूटर के प्रयोग की सम्भावनाएँ दिखाने के लिए कार्य का समन्वयन दायित्व भारत सरकार के इलेक्ट्रॉनिकी विभाग को मिला। श्री मधुकर राव चौधरी और प्रो. रवीन्द्र श्रीवास्तव का प्रोत्साहन मिला। भारत सरकार के इलेक्ट्रॉनिकी विभाग ने सम्मेलन में प्रतिभागियों के रजिस्ट्रेशन की शोध परियोजना BITS पिलानी को दी। वैज्ञानिकों ने उस समय सारा रजिस्ट्रेशन कार्य हिन्दी में कर दिखाया एवं सम्भावना को सकारात्मक अभिव्यक्ति दी। सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में पिछले दो दशक में बहुत तेजी से विकास हुआ है। नए समर्थ ऑपरेटिंग सिस्टम, विश्व भाषाई यूनिकोड, ओपेन टाइप फॉन्ट, ऑफिस सूट, विश्वव्यापी वेब, मानव भाषा संसाधन की प्रगत प्रविधियाँ, मशीनी अनुवाद, ओ सी आर, टेक्स्ट टू स्पीच, इत्यादि।

छह दशक पहले स्वराज में अपनी भाषा और संस्कृति को समृद्ध और व्यापक बनाने का लक्ष्य था। अतीत पर गर्व था और जनशक्ति पर भरोसा था। गूढ़ ज्ञान को खोजते हैं तो संस्कृत वाङ्मय में चले जाते हैं, देवनागरी लिपि में प्रचुर साहित्य भी मिल जाता है। 21वीं सदी को एक दशक बीत रहा है, लेकिन पहले जैसा सकारात्मक संकल्प संशय में बदलता जा रहा है। ‘सूचना प्रौद्योगिकी और देवनागरी लिपि’ चर्चा और मंथन का विषय बन गया है। अभीष्ट लक्ष्य पाने में संशय और विलम्ब से प्रबुद्ध वर्ग चर्चा करता है जिससे लोक कल्याणकारी लक्ष्य को भुला न दिया जाए।

संकल्पनाओं और विचारों के आदान-प्रदान के लिए भाषा जन्म लेती है। भाषिक आदान-प्रदान तत्काल मौखिक सम्भव है। कालान्तर में इसे लिपि के माध्यम से सुरक्षित रखा जा सकता है। अतीत में लोग दूर-दूर बसे थे सो उनकी भाषाएँ अलग-अलग थीं। सभ्यता के विकास और आवागमन के बढ़ने से भाषाएँ और लिपियाँ

* dr.omvikas@gmail.com Mobile : 09868404129

एक-दूसरे से प्रभावित हुई। पाणिनी जैसे मनीषियों ने ध्वनि एवं लेखन में ऐक्य पर बल देते हुए ध्वनियों का स्वर एवं व्यंजन में वर्गीकरण किया, उच्चारण स्थान और विधि के आधार पर लिपि संरचना सारणी बनाई। लिपि-व्याकरण भी दिया। अन्य सभी लिपियों की अपेक्षा इसका ध्वन्यात्मक, वैज्ञानिक आधार है। इसे देवनागरी कहा गया। आजकल संक्षेप में इसे 'नागरी लिपि' कहते हैं। इसकी आधार संरचना 'पाणिनी-सारणी' है।

पाणिनी सारणी (Panini Table)

P = (P1, P2, P3, P4, P5) M = (M1, M2, M3, M4, M5, M6)

		व्यंजन		स्वर		स्वरांत							
	अप्र- अघ	मप्र- अघ	अप्र- घ	मप्र- घ	नासिक्य- जिह्वा	अलि- जिह्वा	व्युत्पन्न- व्युत्पन्न	व्युत्पन्न- व्युत्पन्न	मूल- मूल	मूल- मूल			
	M1	M2	M3	M4	M5	M6	व्यंजन	दीर्घ	ह्रस्व	ह्रस्व	दीर्घ	मात्रा	
कंठ	P1	क	ख	ग	घ	ङ	ह	-	-	-	अ	आ	०
तालु	P2	च	छ	ज	झ	ञ	श	य	ऐ	ए	इ	ई	
							(इ+अ)		(अ+इ)				
मूर्ध	P3	ट	ठ	ड	ढ	ण	ष	र	-	-	ऋ	ॠ	
							(ऋ+अ)						
दंत	P4	त	थ	द	ध	न	स	ल	-	-	लृ	ॠ	-
							(लृ+अ)						
ओष्ठ	P5	प	फ	ब	भ	म	-	व	औ	ओ	उ	ऊ	
							(उ+अ)		(अ+उ)				

P : उच्चारण स्थान, M : उच्चारण विधि

प्रौद्योगिकी में बहुत अधिक शक्तिशाली मशीनें बनीं। मशीनों से जोखिम भरे खतरनाक काम, भारी भरकम काम और सूक्ष्मता कामों को नियमित रूप से बिना थके, बिना रुके किया जाना सम्भव हुआ। बुद्धिपरक कामों को करने के लिए कम्प्यूटर विकसित हुए, पहले संख्याओं पर गणना के लिए, बाद में मानव भाषाओं को समझकर विविध संसाधन कार्यों के लिए। कम्प्यूटर पर कार्य करने की मूल प्रक्रिया 0-1 कोड समूहों पर होती है। भाषा के स्वर-व्यंजन, अक्षरों, संख्याओं, विशेष चिह्नों, संचार चिह्नों आदि को 0-1 के बाइटों में कोडित करते हैं। कम्प्यूटर का प्रथम आविष्कार और तदनन्तर विकास रोमन लिपि पर आधारित अंग्रेजी भाषी देशों में हुआ। कम्प्यूटर और कम्प्यूनिक्शन प्रौद्योगिकियों के संयोग से सूचना का संसाधन और

संचार व्यापक हुआ। विश्वव्यापी वेब ने *वसुधैव समीपं* को साकार किया। दूरियाँ कम हुईं। सूचना की खोज, संक्षेपण, भाषान्तरण सम्भव होने लगे हैं।

विकास की यात्रा का निष्कर्ष है कि सूचना प्रौद्योगिकी का विकास सैद्धांतिक रूप से लिपि या भाषा-परक नहीं है। जो रोमन लिपि में अंग्रेजी आदि में सम्भव है, वह नागरी लिपि में भी सम्भव है।

नागरी लिपि के सन्दर्भ में प्रौद्योगिकी विकास तो किए गए हैं। लेकिन उनका प्रयोग व्यापक नहीं हो पा रहा है। क्या है, क्या नहीं है?

फांट : पहले टू टाप फांट विकसित किए गए। तदनन्तर ओपेन टाइप फांट प्रचलन में आए। प्राइवेट स्तर पर और सरकारी अनुदान से बनाए गए कई फांट मुफ्त में डाउनलोड किए जा सकते हैं। अड़चन कहाँ है? फांटों के संरचना आधार अलग-अलग होने से फाइल खोलने के लिए वह फांट लोड किए जाने की आवश्यकता पड़ती है। माइक्रोसॉफ्ट विन्डोज, एप्पल का मेक ओएस, लाइनेक्स आदि ऑपरेटिंग सिस्टम प्रचलन में हैं। लेकिन उन पर नागरी फांट का अलग प्रावधान लेने पर एक दो फांट ही मिलते हैं और उनमें भी पारस्परिक समानता नहीं। इन ऑपरेटिंग सिस्टमों के आधार पर ऑफिस सूट में कम से कम 10 (ओपेन टाइप फांट) उपलब्ध कराए जाएँ। एक प्रकार के फांट सभी पर उपलब्ध होने पर फाइल की सूचना का आदान-प्रदान आसान होगा। भारत सरकार के सूचना प्रौद्योगिकी विभाग ने हिन्दी सी. डी. में मुफ्त प्रयोग के लिए कई फांट दिए हैं लेकिन उनके व्यवसायिक प्रयोग पर रोक लगी है। इनमें से कम-से-कम 10 सुन्दर फांट व्यवसायिक प्रयोग के लिए भी मुफ्त मुक्त किए जाएँ। यह जनता के हित में होगा, इससे नागरी लिपि का प्रयोग संवर्धन होगा, भारतीय भाषाएँ समृद्ध होंगी। सकल भारती फांट को भी देने से सभी भारतीय भाषाओं को लाभ होगा।

फांट कन्वर्जन यूपिलिटी : फांट विविध हैं। इन्हें आपस में बदलने के लिए और इन्हें यूनिकोड में परिवर्तन करने के लिए फांट कन्वर्जन प्रोग्राम बनाए गए हैं। ये भी व्यवसायिक प्रयोग के लिए मुफ्त उपलब्ध हों। जनहित में भारत सरकार पहल करे।

इनपुट : इनपुट के लिए की-बोर्ड ड्राइवर सॉफ्टवेयर ऑपरेटिंग सिस्टम का अभिन्न अंग है। रोमन के लिए QUERTY की बोर्ड सर्वाधिक प्रयोग में है। नागरी लिपि में इनपुट के लिए कई प्रकार के की बोर्ड बनाए गए हैं इंडिस्ट्रिक्ट, फोनेटिक, रेमिंगटन, इत्यादि। इन्हें अलग से लोड करना पड़ता है। भारत की राजभाषा नागरी लिपि में हिन्दी है। विडम्बना है, शासकीय मान्यता, जनसंख्या की बहुलता होते हुए भी सरकारी विभागों, उपक्रमों और सरकारी वित्त पोषित परियोजनाओं में नागरी की-बोर्ड ड्राइवर के पूर्व लोडित होने की अनिवार्यता नहीं है। शायद एक प्रतिशत से भी कम, सम्भवतः नगण्य कम्प्यूटरों पर ऐसी सुविधा होगी। नागरी की-बोर्ड INSCRIT मानक

के अनुसार TVS ने बनाया। विडम्बना है कि सरकारी विभागों में भी उसके खरीददार नहीं मिले। इसलिए TVS ने इसको बनाना बन्द कर दिया।

स्टाफ सेलेक्शन कमीशन (SSC) की टंकण परीक्षा में INSCRIPT नागरी की-बोर्ड पर टैस्ट की अनिवार्यता अथवा वरीयता नहीं है।

नीति है, पर अनुपालन नहीं होता है। मात्र शुगाल-विलाप है।

कोडिंग : 1980 के दशक में ISCI कोड भारतीय भाषाओं की लिपियों के लिए बनाया गया। परिवर्धित देवनागरी को अन्य भारतीय लिपियों के लिए आधार बनाया गया। कुछ प्रचलन में आया भी। दशक के अन्त तक UNICODE का प्रचार-प्रसार बढ़ा। वैश्विक स्तर पर वेब पर बने रहने के लिए UNICODE का प्रयोग सर्वमान्य हो गया है।

नागरी लिपि ध्वन्यात्मक है। इसका लिपि व्याकरण भी है। व्यंजनों के अन्त में स्वर के साथ स्वतन्त्र ध्वनि को अक्षर (Syllable) कहते हैं। व्यंजन का तात्पर्य स्वर विहीन शुद्ध व्यंजन से है। देवनागरी कोड हिन्दी, संस्कृत, नेपाली, कोंकणी, कश्मीरी, डोंगरी आदि के लिए और वैदिक संस्कृत के लिए भी प्रयुक्त होता है।

फोनीकोड : अब तक कोडिंग का आधार रेखीय रूप में पृथक रूप (0...9 संख्या, a...z वर्ण रूपिम;...?) पंकच्येशन चिह्न आदि है।

पाणिनी सारणी से ध्वनि लिपि का परस्पर प्रभाव समझा जा सकता है। स्वतन्त्र स्वर रूपिम है, व्यंजन के अन्त में स्वर का रूप बदलकर मात्रा बन जाता है जो ध्वन्यात्मक इकाई अक्षर (Syllable) है। V (स्वर), CV (व्यंजन स्वर), CCV (व्यंजन-व्यंजन स्वर) आदि अक्षर हैं। मूल अक्षर (Syllable) को कोड करके फोनीकोड सभी भाषाओं के लिए उपयुक्त होगा। भाषा के अनुसार इनके इनपुट-आउटपुट निश्चित किए जा सकते हैं। 'फोनीकोड' भारत का विशिष्ट योगदान होगा।

लिप्यंतरण : परिवर्धित देवनागरी वर्णमाला से विश्व भाषाओं की अधिकांश ध्वनियों को अभिव्यक्त किया जा सकता है, जैसा लिखा वैसा बोलो। यह स्वनिम-रूपिम की समानता अन्य किसी लिपि में नहीं है। INSROT लिप्यंतरण मानक बनाया गया था। लेकिन प्रयोग में विविध प्रकार की लिप्यंतरण तालिकाएँ मिलती हैं।

लिपि और भाषा

नागरी लिपि का प्रयोग भाषायी जनसंख्या के हिसाब से बहुत कम है, नगण्य है। अंग्रेजी के मोह में भारतीय भाषाओं को राज्यश्रय के बजाय राज्य-उपेक्षा मिलने से नागरी लिपि का प्रयोग शिक्षा, व्यापार, मीडिया में घटता जा रहा है।

कुछ लोग ब्लॉग आदि बना लेने से अपनी-अपनी पीठ ठोक लेते हैं, लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि समाज में नागरी लिपि का प्रयोग हेयकर बनता जा रहा है।

वेब पर आधारित नागरी लिपि

वेब पर सूचना का आदान-प्रदान तीव्रतर और सुगमता से हो रहा है। लेकिन अधिकांश रोमन में। नागरी लिपि में सुगमता के लिए कतिपय सुन्दर मानक फांट व्यवसायिक दृष्टि से सभी IT उद्योगों को मुफ्त और मुक्त उपलब्ध हैं।

डोमेन नेम URL, e-mail ID नागरी लिपि में अभी तक नहीं है। औपचारिक चर्चाएँ एक दशक से हो रही हैं। अरबी लिपि में डोमेन नेम हैं, यह बहुत जटिल लिपि है। विश्व स्तर की यह पहल सरकार ही कर सकती है।

नागरी OCR

ओ.सी.आर. पर शोध कार्य दो दशकों से चल रहा है। लेकिन किसी सरकारी विभाग में भी नागरी ओ.सी.आर. नहीं मिलता। सभी ओ.सी.आर. द्विलिपिकरोमन एवं नागरी में और अन्य भारतीय भाषा लिपियों के विकल्प के साथ भी उपलब्ध कराए जाएँ।

W3C में नागरी मानक

W3C (World Wide Consortium) वेब पर सूचना के सुगम आदान-प्रदान, रख-रखाव के लिए विविध प्रकार के मानक बनाता है जिन्हें IT कम्पनियाँ स्वीकार कर तदनुसार सुविधा प्रदान करती हैं, जैसे : HTML, XML, CSS इत्यादि।

नागरी में यूटिलिटी सॉफ्टवेयर

लाइब्रेरी, एकाउंटिंग, स्कूल-कॉलेज, प्रबंधन, ट्रांसपोर्टेशन, पाठ-लेखन, ऑथरिंग आदि सॉफ्टवेयर नागरी लिपि में मुफ्त, मुक्त सर्वसुगम हों। 'जनकल्याण सॉफ्टवेयर' के अन्तर्गत सरकार उन्हें उपलब्ध कराए। वन लेपटॉप पर चाइल्ड (OLPC) परियोजना में भी प्रत्येक लेपटॉप पर नागरी का भी प्रावधान हो।

संक्षेप में समस्या टेक्नोलॉजी की नहीं, प्रत्युत राजनीतिक इच्छा शक्ति की भी है। नीति का प्रभावी अनुपालन हो। कतिपय सुझाव इस प्रकार हैं

1. नागरी लिपि ध्वन्यात्मक लिपि है। विज्ञान-सम्मत सर्वध्वनि-लिप्यंकण पाणिनी-सारणी का आधार है। भाषा विषयक मानकीकरण में पाणिनी-सारणी को ध्यान में रखा जाए।
2. नागरी-रोमन परिचय चार्ट पर्यटन केन्द्रों और एयरपोर्ट आदि पर उपलब्ध हों।
3. टीवी चैनलों पर नागरी में कैप्शन दिखाए जाएँ।
4. नागरी लिपि पर आधारित फोनीकोड का विकास किया जाए।

5. नागरी लिपि के कम से कम दस सुन्दर मानक फांट व्यवसायिक प्रयोग के लिए भी मुफ्त एवं मुक्त ओपेन डोमेन में सर्वसुलभ कराए जाएँ। यह जनहित में दूरगामी कदम होगा।
6. स्कूलों-कॉलेजों में नागरी OCR, Open Office, Library Info System, Accounting Software, School Management Software आदि उपलब्ध कराए जाएँ।
7. नागरी में कंटेन क्रियेशन और Web Service इंटीग्रेशन और XML आदि मानकों पर भी काम किया जाए।
8. वेब पर डोमेन नेम नागरी में भी स्वीकार्य हों।
9. नागरी लिपि के बारे में जागरूक संस्थाएँ एकजुट होकर तत्काल इन सिफारिशों को कार्य रूप देने के लिए भारत सरकार के सम्बन्धित विभागों से सम्पर्क करें।
10. 'नागरी सांसद ग्रुप' का गठन हो। प्रबुद्ध सांसद सदस्य इस मंच से नागरी लिपि और संस्कृति के संरक्षण की महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

पुस्तक-समीक्षा

समीक्षा के नए आयाम**

दीनानाथ सिंह*

‘अर्द्धनारीश्वर : दिनकर’** शीर्षक आलोचनात्मक ग्रन्थ के शिखर समीक्षक डॉ. कुमार विमल हैं। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के समीक्षकों में इनका स्थान अनन्वय इस अर्थ में है कि उन्होंने हिन्दी-समीक्षा को सौन्दर्यवादी आयाम दिया। एक तरह से इन्होंने अपने समय के समीक्षकों के लिए सौन्दर्यवादी समीक्षा का सूत्रपात कर एक चुनौती प्रस्तुत की, जो आद्यपर्यन्त अनुत्तरित ही है।

‘अर्द्धनारीश्वर (दिनकर) को दिनकर की काव्य-चेतना का विवेचन कहा गया है। पुस्तक में ‘विषय-विन्यास’ के अनुसार डॉ. कुमार विमल ने समीक्षा सन्दर्भों को क्रमशः दिनकर की काव्य-साधना के विविध पक्ष, कुरुक्षेत्र की वैचारिक पृष्ठभूमि, ‘रश्मिस्थी’: भारतीय साहित्य और कर्ण-काव्य की पृष्ठभूमि में, ‘रश्मिस्थी’ में युद्ध-भावना और सामाजिक न्याय, युद्ध-काव्य और दिनकर, ‘उर्वशी’ : पुरानी कथा, नए सन्दर्भ तथा दिनकर और डी. एच. लॉरेन्स का काम-चिन्तन, ‘उर्वशी’ के विशेष सन्दर्भ में, आदि क्रम में रखकर विश्लेषित किया है। परिशिष्ट, पुस्तक की भूमिका एवं स्मृतियों की गोद में दिनकर आदि समीक्षा-ग्रंथ के अतिरिक्त आकर्षण हैं।

प्रकाशक ने पुस्तक के विषय में सूत्र रूप में लिखा है“दिनकर की काव्य-चेतना की प्रामाणिक विवेचना का प्रतिपादक यह ग्रन्थ अनेक सन्दर्भों में अद्वितीय है। इस युग के वरिष्ठ आलोचक और चिन्तक डॉ. कुमार विमल ने उसमें दिनकर-काव्य के कई अल्प विवेचित और नए पक्षों को पाठकों के समक्ष बहुत बारीकी के साथ प्रस्तुत

* डॉ. दीनानाथ सिंह, पीएच. डी. लिट्. कृतकार्य अध्यक्ष एवं प्राचार्य स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, वीर कुँवर सिंह वि.वि., आरा (बिहार) 802301 सम्पर्क : संकटमोचन नगर, न्यू पुलिस लाईन, आरा (बिहार) 802301 मो. 9931645508

** अर्द्धनारीश्वर : दिनकर, ले. डॉ. कुमार विमल, सद्विचार प्रकाशन, पटना (2010)

किया है। इस पुस्तक में पहली बार दिनकर के गरुड़ (रोपण सुपर्ण) का तुलनात्मक अध्ययन इकबाल के 'शाही' नीत्शे के 'जरथुस्त्र' और बर्नार्ड शॉ के 'सुपरमैन' के साथ इतने विस्तृत रूप में किया गया है। साथ ही उस मूल्यांकन में अर्जुन और कर्ण की प्रतिशोध-भावना का तुलनात्मक विश्लेषण ग्रीक पुरा-कथा के एकिलीज की Aristeia के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। इसी तरह विश्व युद्ध काव्य की पृष्ठभूमि में 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिर्थी' में व्यक्त 'सामाजिक न्याय' की विवेचना और 'उर्वशी' में निहित कामाध्यात्म की डी.एच. लॉरेन्स के काम-चिन्तन के साथ तुलना उस ग्रन्थ के अनन्वय विलक्षणताएँ हैं, जो जिज्ञासु पाठकों के समक्ष दिनकरसाहित्य के अनेक नूतन गवाक्ष खोलती हैं।”

प्रस्तुत समीक्षा-पुस्तक 'विश्व हिन्दी पुस्तक मेला', दिल्ली (2010 ई.) में पहली बार लोकार्पित हुई। मेरी जिज्ञासा उसे प्राप्त कर पढ़ने की हुई और जब यह मुझे दुर्लभ संयोग हस्तामलक हुआ तो अनेक कारणों से मेरा मन द्विधा से ग्रसित हो गया। पुस्तक का शीर्षक 'अर्द्धनारीश्वर दिनकर' समीक्षा-पुस्तक का नाम क्यों? यह तो बहुत भ्रामक है। डॉ. कुमार विमल ने दिनकर को अर्द्धनारीश्वर क्यों कहा है? विषय विन्यास में एक भी समीक्षा का शीर्षक 'अर्द्धनारीश्वर दिनकर' नहीं है! क्या शीर्षक मुख्यार्थ का सर्वथा तिरस्कारकर्ता है? क्या उसमें अतिव्याप्ति दोष है।

पुस्तक के पृष्ठों को मैं कई बार उलटता-पुलटता रहा, पाद टिप्पणियाँ पढ़कर मन आतंकित हो उठा तथा अपनी अल्पज्ञता पर हीन भावना से भर गया। समीक्षक की अध्ययनशीलता, विश्व-साहित्य की जानकारियाँ, तुलनात्मक प्रस्तुति, दिनकर की काव्य-चेतना का इतना गहन विवेचन आदि ने मुझे लगभग कई दिनों तक द्वंद्वग्रस्त रखा। मुझे इस पुस्तक के सम्बन्ध में कुछ लिखना है! नहीं हो सकेगा, मुझसे यह काम! क्या करूँ? मैंने लिखने के लिए 'चिन्तन-सृजन' त्रैमासिक पत्रिका के विद्वान सम्पादक बी.बी. कुमार को वचन दिया है। मैंने गुरु का स्मरण किया था। तीन-चार बार पुस्तक को पढ़ गया। आई.ए. में मैंने 'रश्मिर्थी', बी.ए. ऑनर्स में 'कुरुक्षेत्र' तथा एम.ए. में 'उर्वशी' का अध्यापन किया था। मैं संतुष्ट था कि छात्रों को मैंने बहुत प्रभावित किया था लेकिन समीक्षित पुस्तक ने मेरे अधूरे ज्ञान का पर्दाफाश किया है।

एक बात से मैं और लज्जित हूँ। एक बार मैंने डॉ. कुमार विमल से कहा था, आपने दिनकर तथा दिनकर के काव्य-साहित्य पर पहले ही पूरा लिखा है, अब उनपर अथवा उनके काव्य-साहित्य पर क्या लिखना है? मैं भूल गया था कि टी.एस. इलियट की मान्यता के अनुसार अच्छी कविता में सन्निहित अर्थ की कई परतें होती हैं, उसी तरह कोई भी समीक्षा अन्तिम नहीं होती है। एक ही समीक्षक अपनी समीक्षा को संशोधित, संवर्द्धित करता है। यही काम उस पुस्तक के द्वारा समीक्षक ने किया है।

एक तरफ डॉ. कुमार विमल ने दिनकर के काव्य-साहित्य की उपलब्ध सभी समीक्षाओं का पुनर्मूल्यांकन किया है। कई स्थापनाओं का खंडन किया है। अपनी ही

कई मान्यताओं का संशोधन किया है। अनेक ऐसी नई स्थापनाओं की प्रस्तुति की है, जो अभी तक यशस्वी तथा शीर्ष समीक्षकों की दृष्टि से ओझल थीं।

अब आइए पुस्तक के नामकरण के विरोधाभास पर। मैं सोच ही रहा था कि अत्यंत तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि लक्षण-लक्षणा शब्द-शक्ति अथवा उपादान-लक्षणा शब्दशक्ति के अनुसार इसका अर्थ “गंगायाम घोष” की तरह व्यंजना शब्द-शक्ति के आधार पर करना होगा, कि डॉ. विमल के उसी ग्रन्थ में उसका प्रश्नात्मक संकेत दे दिया है “दिनकर ने ‘कलिंग-विजय’ की रचना सन् 1940 ई. में की थी और ‘अर्द्धनारीश्वर’ नामक निबंध-संकलन सन् 1952 ई. में प्रकाशित हुआ था। जिससे यह प्रतीत होता है कि दिनकर के कवि-मानस में ‘अर्द्धनारीश्वर’ का प्रतीक वर्षों से केंद्रित था और विकसित हो रहा था। नरत्व-नारीत्व, वीर-शृंगार और कोमल-कठोर का यह समन्वय नीत्शे, नजरूल और इकबाल की रचनाओं में भी मिलता है। सन् 1958 ई. में प्रकाशित ‘वेणुवन’ में भी दिनकर का ‘अर्द्धनारीश्वर’ शीर्षक एक चिन्तन प्रधान निबन्ध संकलित है। अर्द्धनारीश्वर को शंकर और पार्वती का कल्पित रूप मानते हुए उन्होंने यह मुख्य बात कही है कि ‘प्रत्येक नारी में कहीं न कहीं’ एक नर प्रच्छन्न है। और प्रत्येक नर में कहीं-न-कहीं एक क्षीण नारी छिपी हुई है।’ अर्द्धनारीश्वर के प्रसंग में ‘उजली आग’ के अन्तर्गत संकलित उनकी ‘अर्द्धनारीश्वर’ शीर्षक रम्य रचना भी पठनीय है, जिसके अनुसार यह प्रतीक नरत्व-नारीत्व, वीर-शृंगार और कोमल-कठोर के समन्वय को इंगित करता है। (पृष्ठ : 30)

दिनकर की एक कविता ‘अर्द्धनारीश्वर’ (सन् 1952 ई.) में अर्द्धनारीश्वर का प्रतीक व्यंजित किया गया है :

“एक हाथ में डमरू, एक में वीणा मधुर उदार,
एक नयन में गरल, एक में संजीवन की धार,
जटाजूट में लहर पुण्य की शीतलता सुखकारी
बालचंद्र दीपित त्रिपुंड पर बलिहारी! बलिहारी!
प्रत्याशा में निखिल विश्व है, ध्यान देवता! त्यागो
बाँटो, बाँटो अमृत, हिमालय के महान् ऋषि! जागो!
फेंको कुमुद-फूल में भर-भर किरण, तेज दो, तप दो,
ताप-तप्त व्याकुल मनुष्य को शीतल चंद्रातप दो।”

सामान्यतः दिनकर को राष्ट्रकवि, अग्निधर्मा कवि, अग्नि-सम्भव (महादेवी वर्मा) युग की ज्वाल-माला (माखनलाल चतुर्वेदी), ओज, आवेश और मनुष्य के कवि (डॉ. कुमार विमल), भावुक संकटघोषक कवि (Sentimental alarmist poet) अथवा 'तूर्यनादी संकट-घोषक कवि (डॉ. कुमार विमल) कहा जाता रहा है, जिसे कुल मिलाकर सर्वयुगीन कवि (Poet of all times) कहा जा सकता है। वस्तुतः डॉ. कुमार

विमल भी स्वीकार करते हैं“मेरी निश्चित धारणा है कि कवि-रूप में दिनकर के यश-विस्तार का श्रेय उनकी युग-चेतना से सम्पन्न ओज-भरी कविताओं को है, न कि प्रपत्ति और शरणागति की भावनाओं से भरी उनकी ‘सौम्य’ कविताओं को। वे उस कोटि की अपनी कविताओं को ‘निर्धूम’ कविताएँ कहते थे। चूँकि शृंगार एक लसीला-रसीला विषय है, इसलिए ‘रसवंती’ कलम की कविताओं ‘इंटिमस’ (Intimus) सहित ‘आर्स इरोटिका’ (ars-erotica) की घुण्डी ‘उर्वशी’ के पाठकों की संख्या भी कम नहीं है। तथापि दिनकर के यश-विस्तार में अग्रणी योगदान की दृष्टि से इन कृतियों को उनकी ओज-भरी कविताओं की तुलना में, दोयम दर्जा ही दिया जा सकता है।

ऐसा होते हुए भी यह निर्विवाद है कि दिनकर की काव्या-यात्रा एक ओर ‘हुंकार’ की क्रान्ति भावना से प्रारम्भ होकर ‘कुरुक्षेत्र’ तथा ‘रश्मिरथी’ की दूरी तय करती हुई ‘परशुराम से प्रतीक्षा’ के उत्तुंग शिखर पर चढ़ गई। दूसरी ओर दिनकर की ललित चेतना की यात्रा समानान्तर बढ़ती हुई ‘रसवंती’ की गंगोत्री को पार करती हुई उर्वशी के अप्सरा-लोक तक जा पहुँची। उस सन्दर्भ में कवि के भावों के परुष और मसृण दोनों रूप एक-दूसरे से कम सशक्त और प्रभावशाली नहीं हैं। वीर और शृंगार दोनों की पराकाष्ठा दिनकर की कविताओं में सर्वथा उल्लेखनीय है। अस्तु, दिनकर में डॉ. कुमार विमल ‘अर्द्धनारीश्वर’ का प्रतीक समायोजित करते हैं, तो समीक्षा-पुस्तक के नामकरण का औचित्य स्वयं सिद्ध हो जाता है :

*इस पावक से शमित करो, मन की यह लपट बुझाओ,
छाया दो नर को, विकल्प की इति से उसे बचाओ।*

(‘अर्द्धनारीश्वर’ कविता)

सहसा मेरे स्मरण में देरिदा के विसंरचना (डी-कंस्ट्रक्शन) का सिद्धांत आ गया है। संभव है बहुविज्ञ समीक्षक ने समीक्षा पुस्तक के नामकरण में उसी सिद्धांत का सहारा लिया हो। मैं देरिदा के सिद्धांत को दुहराना नहीं चाहता हूँ परन्तु यह सर्वविदित है कि ‘विसंरचनात्मक आलोचना का लक्ष्य विद्यमान अर्थ से भिन्न अन्यता-परता के बिन्दु को ‘लोकेट’ करना है। विसंरचना रचना या पाठ में उपस्थित अर्थ या सामान्यतः ज्ञात अर्थ को स्वीकार नहीं करती है। वह उसमें अनुपस्थित अर्थ को तलाशती और उसे अन्वेषित करती है। इस रूप में वह रचना के अन्तर्गर्भी अर्थ या निहितार्थ की सर्जना करने के कारण सर्जनात्मक आलोचना बन जाती है। (चिन्तन-सृजन, वर्ष8, अंक2, आस्था भारती, दिल्ली96; आलेख : डॉ. पाण्डेय शशिभूषण ‘शीतांशु’, पृष्ठ : 5152)

निश्चय ही दिनकर की काव्य-कृतियों की चेतना का गर्भित अर्थ लेकर समीक्षक डॉ. कुमार विमल ने प्रस्तुत समीक्षा-पुस्तक को सर्जनात्मक समीक्षा का कलेवर प्रदान

किया है और हर तरह से पुस्तक का नामकरण अर्द्धनारीश्वर दिनकर पूरी तरह सार्थक, प्रतीकात्मक एवं संश्लिष्ट अर्थ-बोधक है।

समीक्षक का प्रयोजन

दिनकर को केन्द्र में रखकर डॉ. कुमार विमल ने इस पुस्तक के पहले भी बहुत लिखा है आलेख के रूप में तथा समीक्षा पुस्तक के रूप में। तब इसकी आवश्यकता क्यों? समीक्षक के शब्दों में उत्तर जान लेना ही ठीक होगा“चूँकि दिनकर जी के जीवन-काल में न तो उन्हें कोई उम्दा अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया गया और न उनके असामयिक देहावसान के बाद तर्पण-स्वरूप कोई स्मृति-ग्रन्थ ही प्रकाशित किया गया, इसीलिए मैंने उचित समझा कि समय-समय पर दिनकर जी के जीवन-काव्य से आजतक मैंने दिनकर पर जो कुछ लिखा, उसे एक पुस्तक के रूप में संग्रहित कर दूँ।” (पृष्ठ 3, पुस्तक की भूमिका)।

दूसरा कारण : इस रचना की पृष्ठभूमि में एक मूक पश्चात्ताप से छुटकारा पाने की कोशिश भी है, जिससे मैं सन् 1990-1997 ई. से ही ग्रस्त था। उस समय मैं भारत सरकार द्वारा नामित प्रतिनिधि के रूप में साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली का सदस्य था। कई साल पहले दिनकर जी पर एक विनिबंध लिखने का कार्य डॉ. शिव मंगल सिंह ‘सुमन’ को साहित्य अकादेमी द्वारा सुपुर्द किया गया था, जिसे वे पूरा नहीं कर सके। साहित्य अकादेमी के परामर्श मंडल ने जून, 1992 ई. में यह कार्य मुझको सुपुर्द किया...किन्तु छह-सात वर्षों की सुदीर्घ प्रतीक्षा के बावजूद, दिनकर पर अभीष्ट विनिबंध नहीं लिख सका।...यह छोटी-सी पुस्तक उसी पश्चात्ताप से छुटकारा पाने का एक विनम्र प्रयत्न है। (पृष्ठ 3, पुस्तक की भूमिका)

लेखन की प्रामाणिकता : डॉ. कुमार विमल सौभाग्यशाली हैं कि उन्हें दिनकर की अविश्वसनीय सन्निकटता प्राप्त थी। वे जब दिल्ली से पटना आते थे और आर्य कुमार पथ स्थित अपने मकान में रहते थे, तब डॉ. विमल भी प्रतिदिन उनसे मिला करते थे। ‘दिनकर की डायरी’ (प्रकाशित) से भी पता चलता है कि दोनों प्रातः भ्रमण साथ-साथ किया करते थे। दिनकर जी, डॉ. कुमार विमल की विद्वता, अध्ययनशीलता और प्रभापूर्ण लेखन से प्रभावित ही नहीं थे बल्कि उनके प्रशंसक भी थे। उनके इर्द-गिर्द रहकर डॉ. कुमार विमल ने उनकी कविता-शैली, रहन-सहन, खान-पान, स्वभाव-व्यवहार, लेखन-पद्धति आदि का बारीक निरीक्षण किया है। उन समस्त अनुभवों को उस पुस्तक की भूमिका और ‘स्मृतियों की गोद में दिनकर’ शीर्षक संक्षिप्त आलेखों में पाठकों के लिए सुलभ बना दिया है। डॉ. नगेंद्र जब यह स्वीकार करते हैं कि कोई भी रचना एक तरह से रचनाकार की आत्माभिव्यक्ति है, तो दिनकर की काव्य-कृतियों का जो ‘सच’ है, वह निश्चित रूप से कवि का भोगा गया जीवन है। टी.एस. इलियट का वह सिद्धांत यहाँ लागू नहीं होता है। There is always a

separation between the artist who creates and the man who suffers. Greater the artist, greater the Separation. रचनाकार और रचनाकार के भोक्ता पात्र दोनों एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। यह भिन्नता और दूरी जितनी अधिक होती है, रचनाकार उतना ही श्रेष्ठ होता है। दिनकर के लिए टी.एस. इलियट का उक्त कथन (Tradition and Individual talent) सही नहीं प्रतीत होता है। डॉ. कुमार विकल के निजी दूरबीनी अनुभवों को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा :

- (i) दिल्ली प्रवास के दरम्यान जब दिनकर जी को प्रायः संध्या समय गोष्ठियों और सभाओं में अथवा चाय-पार्टी और रात्रि-भोज में सम्मिलित होने की बारंबारता ने विवश कर दिया, तब वे सुदर्शन बनकर अच्छी पोशाक में दिल्ली की जीवन शैली के अनुरूप 'नागर' बनकर सांध्य सम्मेलनों में जाया करते थे।...वे शाम के कार्यक्रमों के लिए प्रस्थान करने से कुछ पहले दाढ़ी बनाया करते थे। (पृष्ठ5)
- (ii) "हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में भाग लेने के लिए फारबिसगंज (पूर्णिमा) गए हुए थे। उन्हें पटना लौटते समय रास्ते में ही बुखार आ गया। दूसरे दिन संध्या समय जब मैं उनसे मिलने गया, तब बुखार में ही क्रोध से काँपते हुए उन्होंने कहा कि मुझे जो भी भुगतना पड़े मैं भारत की जनता के साथ भारत के क्रोध को व्यक्त करूँगा, लड़ूँगा मरूँगा।" (पृष्ठ6)
- (iii) "तब वे 'परशुराम की प्रतीक्षा' शीर्षक कविता का अन्तिम अंश लिख रहे थे। मैं चुप बैठा रहा। कविता की रचना समाप्त करते ही उन्होंने मुझसे कहा "लो, तुम इस कविता को सबसे पहले सुनो। उस दिन मैंने तुमसे इस देश के लिए केवल 'रक्त-स्नान' की बात कही थी। लेकिन इस देश को 'रक्त-स्नान' के साथ ही 'अग्नि-स्नान' की भी आवश्यकता है।... कविता, रचते और पढ़ते समय दिनकर जी की आँखें लाल थीं और वे पुनः क्रोध से काँप रहे थे।" (पृष्ठ6)
- (iv) "दिनकर जी प्रतिभाशाली होने के साथ ही बहुत परिश्रमी थे। उनके दाहिने हाथ की बीच की उँगली (मध्यमा) के अग्रभाग में कलम से लिखते-लिखते घट्टा पड़ गया था।" (पृष्ठ7)
- (v) "दिनकर जी मधुमेह और उच्च रक्त-चाप के साथ ही 'अन्जाइना पेक्टोरिस' के मरीज थे। बाद में उन्हें बम्बई के डॉक्टर कील के अनुसार 'स्कीमिया' और 'हार्ट एनलार्जमेंट' की बीमारी हो गई। सन् 1868 ई. से उनका बायाँ हाथ अधिक काँपने लगा था और दाहिने हाथ में भी वे सुडौल लिखावट में कोई लेख या कविता नहीं लिख पाते थे।" (पृष्ठ15)

दिनकर जी की ऐसी आत्मीय सन्निकटता के बावजूद डॉ. कुमार विमल उनके जीवन काल में उनको समर्पित ऐसी कृति नहीं रच सके और यदि आज दिनकर

जीवित रहते तो डॉ. कुमार विमल की इस विस्तृत सम्मति और मूल्यांकन को पढ़कर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती।

मूल्यांकन और चिन्तन के नए आयाम : दिनकर-काव्य के अग्नि-तत्त्व (कठोरपक्ष)

- पराधीन भारत में 23 सितंबर, 1908 ई. को जन्मे दिनकर मूलतः और स्वभावतः क्रान्तिवादी कवि थे। 'विपथगा' और 'दिगम्बरी' जैसी आग्नेय कविताओं के 'आलोकधन्वा' कवि थे।
- दिनकर के इस कवि-रूप की तुलना 'अग्निवीणा' के कवि और 'धूमकेतु' के संपादक काजी नजरूल इस्लाम के 'विद्रोही कवि-रूप' के साथ की जा सकती है।
- दिनकर मूलतः रति और हुंकार के कवि थे। किन्तु रति-शृंगार की भावनाओं से नाता तोड़कर वे देश की पराधीनता के कारण 'असमय आह्वान' के कवि बन गए।
- तोड़-मरोड़ कर फेंके गए वीणा के तार रह-रहकर जुड़ते रहे और 'भैरव हुंकार' को स्थगित कर वे तार कभी 'रसवंती' और कभी 'उर्वशी' को रचते रहे। भूल यह हुआ कि 'हरिनाम' जपते-जपते भी कवि की आत्मा की आँखें डी.एच. लारेन्स की ऐन्द्रिय कविताओं की ओर आकृष्ट होती रहीं।
- दिनकर की आकांक्षा इस विशाल देश के राष्ट्रकवि पद से जुड़ी हुई थी उसका पता दिनकर की लेखनीय मानसिकता से चलता है।

(स्मृतियों की गोद में दिनकर, पृष्ठ : 4-14),

तथा

(दिनकर की काव्य-साधना के विविध पक्ष, पृष्ठ : 18-31)

दिनकर के विवादास्पद महाकाव्य (?) 'कुरुक्षेत्र' की वैचारिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में समीक्षक डॉ. कुमार विमल ने पुनः नए ढंग से प्रकाश डाला है। इनके विचारों को सूत्र रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक है :

- कुरुक्षेत्र एक विचार-काव्य है, जिसमें ओजस्वी वाग्मिता है और जिसकी प्रबंधात्मकता विचारों के प्रकर्ष-बंध में है।
- महाभारत के कुरुक्षेत्र (मैदान) के युद्धारम्भ में अर्जुन का क्लैव्य है, वही युद्धान्त में युधिष्ठिर का निर्वेद है। अर्जुन के क्लैव्य-निरसन में 'गीता' की सृष्टि हुई और युधिष्ठिर के निर्वेद उन्मूलन में शान्ति पर्व को भैष्मी अवदान प्राप्त हुआ।...
- हम 'गीता' के अर्जुन और 'कुरुक्षेत्र' (दिनकर) के युधिष्ठिर की उक्तियों में किंचित् साम्य पाते हैं।

- 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर की भूमिका अर्जुन (गीता) की अपेक्षा आधुनिक मानव-समाज के लिए अधिक उपयुक्त है, क्योंकि युधिष्ठिर की तरह साम्प्रतिक मानव अपनी आँखों से लौह संगर की संहार-लीला देखकर युद्ध के धर्म्याधर्म्य और औचित्य-अनौचित्य पर विचार करने चला है।
- युधिष्ठिर के निर्देश को गहरा और व्यापक बनाकर दिनकर ने युद्ध-सम्बन्धी उनके संपूर्ण परिप्रेक्ष्य (Perspective) में अपने युग के अनुकूल परिवर्तन उपस्थित किया है।
- दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' में अर्जुन के वीर, संवेदनशील और धर्मधुरीण चरित्र पर अपनी काव्य-कल्पना को संकेन्द्रित नहीं किया है, जबकि महाभारत के अर्जुन को उनके वीर चरित्र के कारण 'इंडियन एकिलीज' (Achilles) कहा जाता है। विदित है कि एकिलीज ग्रीक पुराकथा का अद्वितीय वीर चरित्र है।
- 'कलिंग-विजय,' कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' में दिनकर का युद्ध-दर्शन क्रम क्रम से व्यापक और उच्चतर धरातल पर उत्तरोत्तर विकसित होता गया है।
- 'कुरुक्षेत्र' का षष्ठ वर्ग की उसकी वैचारिक पीठिका है। प्रबंधात्मकता की दृष्टि से 'कुरुक्षेत्र' का षष्ठ सर्ग वही है, जो 'साकेत' का नवम् सर्ग है। किन्तु उससे भी उसकी भिन्नता है। 'साकेत' के नवम् सर्ग में अन्ततः उसके एक पात्र उर्मिला के हृदय की गीतात्मक अभिव्यक्ति है, किन्तु 'कुरुक्षेत्र' के इस सर्ग में किसी पात्र की नहीं स्वयं कवि की आत्माभिव्यक्ति है।
- 'कुरुक्षेत्र' इतः पूर्व हिन्दी-साहित्य में समता के फलक पर मानवीय मूल्यों एवं उसके सामाजिक सम्बन्धों का सोद्देश्य निरूपण करने वाला उत्तम प्रबंध काव्य है और दिनकर अपने सशक्त पौरुष के सम्पूर्ण आग्रह के साथ अधुनातन समाज शास्त्रीय परिधि बंध को वर्तमान मानव की मंगलाशा से संश्लिष्ट कर कर्मयोग के दर्पण में प्रतिबिम्बित करने वाले प्रथम पंक्ति के हिन्दी कवि हैं। 'कुरुक्षेत्र' अपने समय और समाज के प्रति अत्यंत जागरूक एवं स्वतंत्र विचारक कवि की उदग्र वाणी है।
- युद्ध की समस्या 'प्रण-भंग' और 'कलिंग-विजय' के रचना काल से ही कवि के मन में उमड़-धुमड़ रही थी। उसे यह बात खल रही थी कि युद्धों के इतिहास से कोई सबक लिए बिना किस तरह बीती सदी में कई देश अधिक से अधिक बाजार जीतने के लिए और विश्वशक्ति बनने के लिए बेचैन थे। आधुनिक विश्व को गैलिपोली, हिरोशिमा और नागासाकी के विध्वंस तथा नर-संहार से सबक लेकर आत्म परिष्कार करना चाहिए। युद्ध के औचित्य-अनौचित्य तथा करणीयता अकरणीयता पर गहन विचार

विमर्श ही दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' को एतद्विषयक अन्य रचनाओं की तुलना में विशेष महत्त्व देता है।

- समान कथावस्तु पर रचित होकर भी दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' शंकर देव के 'कुरुक्षेत्र' (असमी), नवीन चन्द्र सेन के 'कुरुक्षेत्र' (बांग्ला), मन्नालाल के 'कुरुक्षेत्र' (गुजराती), वेंकटेश कुलकर्णी के 'कुरुक्षेत्र' उपन्यास (कन्नड) आदि से भिन्न और विशिष्ट है।

(पृष्ठ : 3554)

भारतीय साहित्य में, कर्ण-काव्य की परम्परा में दिनकर रचित रश्मिरथी, इसमें निहित युद्ध-भावना तथा सामाजिक न्याय

- महाभारत और उस पर आश्रित वाङ्मय में कर्ण के अनेक नाम मिलते हैं, तथापि दिनकर ने कर्ण की विशिष्टता से अपनी दृष्टि से सटीक अभिव्यक्ति देने के लिए, शायद ऐसा नामकरण (रश्मिरथी) किया है।
- कर्ण की चरित्र-कथा पर अनेक भारतीय भाषाओं में रचनाएँ हुई हैं जिनमें नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सेनापति कर्ण' और 'कालजयी' तथा केदारनाथ मिश्र प्रभात के 'कर्ण' काव्य हिन्दी पाठकों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दीतर भारतीय भाषाओं में बांग्ला में रचित रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'कर्ण-कुंती-संवाद', तमिल में रचित पमाल मुद्दिलयार कृत 'कांडायसी कर्ण', कृष्णमूर्ति पुरानिक द्वारा कन्नड में रचित 'राधेय', रणजीत देसाई द्वारा मराठी में रचित उपन्यास 'राधेय', मराठी में विठ्ठल हरि ओंधकर रचित 'महारथी कर्ण', नेपाली में तुलसी अपतन द्वारा रचित 'कर्ण-कुंती' और कुसुमाग्रज कृत 'कौन्तेय' आदि उल्लेखनीय कृतियाँ हैं किन्तु दिनकर रचित 'रश्मिरथी' युद्ध-भावना और सामाजिक न्याय की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। यह ओजपूर्ण, भाव-प्रधान सूक्ति-संवलित और संवाद-समावेशी होने के कारण संपूर्ण 'रश्मिरथी' पाठकों को कंठाग्र है।
- दिनकर ने 'रश्मिरथी' में कर्ण-चरित्र के ब्याज से वर्णाश्रमवादी व्यवस्था का विरोध कर, युगधर्म के अनुसार अपनी धारणाओं को सामाजिक न्याय की ओर अभिमुखकर और कुंती के चरित्र के माध्यम से जेंडर जस्टिस की संकल्पना को सशक्त अभिव्यक्ति देकर 'रश्मिरथी' को 'युगधर्म का हुंकार' बना दिया।
- युग-चेता दिनकर की यह विशेषता है कि उसमें 'रश्मिरथी' को सामाजिक न्याय की दिशा में जन्माश्रित गैर बराबरी को तोड़नेवाला परम्परा भंजक काव्य बना दिया है।
- युद्ध-काव्य की पृष्ठभूमि में 'रश्मिरथी' दिनकर के कुरुक्षेत्र से भिन्न है। 'कुरुक्षेत्र' में कवि ने युद्ध की अनिवार्यता सिद्ध करते हुए बतलाया है कि

ज्वलंत प्रतिशोध की भावना से प्रबुद्ध जीवन्त जाति-संघर्ष ही धर्म-युद्ध है। किन्तु 'रश्मिरथी' में कवि की भावना ने दूसरा मोड़ लिया है। उसमें युद्ध की प्रलयकारिता और संहार से कवि अधिक भीत और त्रस्त दिखाई पड़ता है "मनुज मनुजत्व से कब तक लड़ेगा?"

- पुनीत अनल की अभ्यर्थना करने वाले दिनकर "जय हो जग में जले जहाँ भी... हमारा नमन तेज को, बल को" की रचना 'रश्मिरथी' अपने युग-संदेश ओजस्विता, सामाजिक न्याय, मार्मिक कथाकलन-कौशल के कारण अद्यावधि कर्ण के चरित्र पर रचित कृतियों में सर्वश्रेष्ठ है।

(पृष्ठ : 5782)

युद्ध-काव्य और दिनकर :

- दिनकर की कई काव्य कृतियाँ 'प्रण-भंग' (1929 ई.), 'कलिंग-विजय' (1940 ई.), 'कुरुक्षेत्र' (1946 ई.), 'रश्मिरथी' (1952 ई.) और 'परशुराम की प्रतीक्षा' (1963 ई.) की विषय-वस्तु युद्ध के इर्द-गिर्द घूमती हैं।
- आधुनिक हिन्दी-कविता के युद्ध-काव्यों 'आर्यावर्त' (मोहन लाल महतो वियोगी), 'उन्मुक्त' (सियारामशरण गुप्त), 'अंधा-युग' (धर्मवीर भारती), 'प्रभासकृष्ण' (केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'), 'उत्तरशती' (सुमित्रानंदन पंत) तथा 'अशोक' (रामदयाल पाण्डेय) आदि के समक्ष दिनकर के 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी' एवं परशुराम की प्रतीक्षा 'अधिक सशक्त' ओजपूर्ण, विचार प्रधान तथा लोकप्रिय युद्ध-काव्य हैं।
- युद्ध से संबंधित काव्य की एक दीर्घपरम्परा हमें विश्व-साहित्य में प्राप्त होती है। यथा, मैथ्यू आर्नल्ड के 'सोहराव-रुस्तम', होमर के 'इलियड' और 'ओडेसी', शेली के 'रिवोल्ट ऑफ इस्ताम' आदि प्रमुख युद्ध काव्य के उदाहरण हैं।
- दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' एक विचार-प्रधान युद्धोत्तर काव्य है। युद्धोत्तर काव्य की तासीर आसन्न युद्ध-पूर्व काव्य और युद्धकालीन काव्य से अलग होती है।

साधारणतः युद्धोत्तर काव्य मानवतावादी धारणाओं पर आधारित निर्वेद और शान्ति का काव्य होता है, जिसमें युद्ध की विभीषिका, सांस्कृतिक विच्छेद और हृदय-विदारक विध्वंस का मार्मिक अंकन होता है।

इस दृष्टि से दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर के निर्वेद के द्वारा उक्त कथन की सम्पुष्टि होती है।

- श्रेष्ठ युद्ध-काव्य का लक्षण यह है कि वह युद्ध-काव्य होकर भी युद्ध का अतिक्रमण करता है। और एक देश में रचित होकर भी वह अनेक देशों की युद्ध भावनाओं को आन्दोलित करता है।

- 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' के दिनकर को हम युद्ध-काव्य का महात्मा गाँधी-युगीन कवि कह सकते हैं। महात्मा गाँधी का मन्तव्य था कि हिंसा से विजय पराजय के समतुल्य होती है 'जीतते संग्राम हम पहले स्वयं को मार।'
- 'कुरुक्षेत्र' के षष्ठ सर्ग पर बर्टेंड रसेल की पुस्तक 'ऑथारिटी एंड इंडिविजुअल' का प्रभाव है। 'महाभारत' के शान्ति पर्व, अनुशासन पर्व तथा बाल गंगाधर तिलक के 'गीता-रहस्य' से भी 'कुरुक्षेत्र' प्रभावित है। ज्ञातव्य है कि जिस समय 'कुरुक्षेत्र' की रचना की गई थी, उस समय तक उस सर्वसहा धरती पर दो भयंकर विश्व-युद्ध घटित हो चुके थे। उन त्रासद विश्व-युद्धों पर, तत्कालीन पृष्ठभूमि में, गम्भीर रूप से विचार करने वालों में चिन्तक रसेल अग्रगामी रहे हैं। किन्तु युद्ध-काव्य के अंग्रेजी के कवियों के बीच जो महत्त्व Wilfred Owen, Isaac Rosenberg और Thomas की त्रयी की कविताओं को मिला, वैसा ही महत्त्व दिनकर और धर्मवीर भारती की युद्ध और युद्धोत्तर विभीषिका से सम्बन्धित कृतियों ('कुरुक्षेत्र' और 'अंधायुग') को दिया जा सकता है।

(पृष्ठ : 85109)

दिनकर-काव्य का कोमल पक्ष: 'उर्वशी' पुरानी कथा के नए सन्दर्भ :

- पद्म-पुराण से लेकर कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' तक तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'उर्वशी' से लेकर महर्षि अरविन्द की रचना 'उर्वशी' तक जिन दो पौराणिक पात्रों उर्वशी और पुरूरवा को साहित्य में अभिव्यंजित किया गया है, उनमें दिनकर रचित 'उर्वशी' सर्वथा नए चरित्र लेकर प्रस्तुत हुए हैं। 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर और भीष्म की तरह ही इस काव्य की उर्वशी और पुरूरवा भी पौराणिक नाम तथा कथा की तरह नाम धारण किए हुए हैं। यहाँ तो वीसवीं शताब्दी के पुरूरवा और उर्वशी हैं, जो क्वान्तम सिद्धांत, हाइजेन्स की थियरी ऑफ अनसर्टेनिटी और सापेक्षतावाद द्वारा निर्दिष्ट काव्य के चतुर्थ आयामिक सत्य पर भी सोच सके हैं। वस्तुतः पौराणिक आख्यान ने 'उर्वशी' के काव्य-रस को सुरक्षित रखने के लिए अंगूर के पतले छिलके का काम किया है।
- स्वयं दिनकर ने पुरूरवा और उर्वशी को क्रमशः सनातन नर और सनातन नारी का प्रतीक माना है।
- जयशंकर प्रसाद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा दिनकर की नारी-भावना तुलनीय है। रविबाबू ने एक पात्र से कहला दिया है कि नारी केवल सुन्दरता है, केवल चाँदनी और फूल है, उसे भला कर्म-कीर्ति और शिक्षा दीक्षा की क्या आवश्यकता हो सकती है। प्रसाद जी ने 'कामायनी' में जिन दो नारी-पात्रों

- की सृष्टि की है, उनमें श्रद्धा के प्रति तो उनकी सहानुभूति है, किन्तु, इड़ा को वे सहानुभूति से नहीं देखते, क्योंकि इड़ा वह नारी है, जिसने पुरुषों के गुण सीखे हैं। दिनकर ने नारी को रोमांटिक दृष्टि से हटकर उसे भोग्या रूप से ऊपर रखकर देखने की चेष्टा की है। दिनकर का यह प्रयास, कुछ दूर तक, हमें 'उजली आग' में संग्रहीत 'मायावी रचना', 'नारी की रुचि' और 'अर्द्धनारीश्वर' शीर्षक रम्य रचनाओं में देखने को मिलता है। दिनकर की 'उर्वशी' एकाचारिणी है, कलुप्तानुरागा है और अप्सरा (सामान्या) होकर भी बसन्त सेना की तरह असामान्या है, किसी एक के प्रति अर्पित है।
- दिनकर की उर्वशी में जगत् और जीवन का स्पन्दन अधिक है, साथ ही अप्सराओं की स्वर्गीयता भी। वह विश्वप्रिया का प्रतीक होने के साथ ही एक व्यक्ति की प्रिया भी है। इस तरह वह सविशेष और निर्विशेष, सांसारिक और स्वर्गीयदोनों है। किन्तु, रवि बाबू की उर्वशी विशेषणों की उर्वशी है। वह केवल स्वर्गीय है, अप्सरा है, विश्वप्रिया है, अतः निर्विशेष और अमूर्त है। वह सबकी है, अतः किसी की नहीं है।
 - शृंगारिक वर्णनों के रहने पर भी 'उर्वशी' अपने उदात्त विचारों के कारण एक सर्वतो भद्रकाव्य है। पकी उम्र में कवि ने शृंगार और प्रेम को अपना विषय बनाया है। इसीलिए किशोर अथवा युवा वय की सहज विछलन और ऐन्द्रियता के अतिरेक से वह बच गया है। ऐसे, 'उर्वशी' का बीजवपन 'रसवंती' में ही हो चुका था।
 - 'उर्वशी' में प्रेम को एक बोधात्मक विषय के रूप में स्वीकार किया गया है। उन्नयन के सहारे उसे 'वासना' से दर्शन (कामाध्यात्म) तक पहुँचाया गया है। दिनकर ने कहा है, प्रेम का एक रूप वह है, जो दैहिक चेतना से परे होता है और जिसकी प्राप्ति के लिए पुरुष और नारी को अपनी अंग-संज्ञा के पार जाना पड़ता है।
 - दिनकर के शृंगार निरूपण में मनोविज्ञान, जीवविज्ञान और एनाटॉमी से सम्पृक्त कल्पना का कलात्मक उपयोग मिलता है जिसके फलस्वरूप हिन्दी-कविता में शृंगार कल्पना को एक जैव स्तर मिल सका है। 'उर्वशी' में दिनकर ने आधुनिक सौंदर्यशास्त्र के 'थिअॅरी आव इम्पैथी' का सुन्दर कलात्मक विनियोग किया है।
 - 'उर्वशी' के प्रारम्भ का प्रेम-निरूपण रोमांटिक और अन्तिम अंश का प्लैटोनिक है। इस तरह इसमें अशरीरी प्रेम ही गन्तव्य है। दिनकर ने नर-नारी प्रेम की जिस अशरीरी आनन्द-लहर को प्रस्तुत किया है, उसमें उन्होंने कालिदास, फ्रॉयड और लॉरेन्स की प्रेम दृष्टियों के समीकृत रूप को स्वीकार किया है।

- 'उर्वशी' में दिनकर रहस्यप्रिय सूक्ष्मोन्मुख सौंदर्य चेतना को प्रस्तुत करने वाले 'मिस्टिक एस्थीट' बन गए हैं। किन्तु उनके प्रेम-दर्शन की व्यावहारिकता इसमें है कि इन्होंने लौकिकता, ससीमता और शारीरिकता को ही उज्ज्वल प्रेम का आधार माना है और देह से उत्थित होने वाले प्रेम को दिनकर ने रहस्य चिन्तन तक पहुँचा दिया है। जैसे जल-पंक से अलिप्त पंकज पैदा होता है, वैसे ही शरीर से अशरीरी प्रेम पैदा होता है। अतः कवि प्रेम-दर्शन के निरूपण में विचार, संवेग और वृत्तियों के ऊर्ध्वगमन या ऊर्ध्वसंचरण को विश्वासी बना गया है तथा उसने फ्रॉयड के उन्नयन और अरविन्द-दर्शन के ऊर्ध्वसंचरण का मौलिक समीकरण प्रस्तुत किया है।

'उर्वशी' में दर्शन और विज्ञान का समन्वय :

- दिनकर ने 'धर्म और विज्ञान' शीर्षक लेख में जिस चिन्तन प्रज्ञा-प्रकर्ष और वैचारिक समन्वय का परिचय दिया है, उसका काव्यात्मक विनियोग उन्होंने 'उर्वशी' के तीसरे अंक में प्रस्तुत किया है। इस काव्य में हम एक साथ ही 'मेटाफिजिकल टेम्पर ऑव मॉडर्न फिजिक्स' और 'साइंटिफिक टेम्पर ऑव मॉडर्न फिलासफी' पाते हैं। उर्वशी के माध्यम से दर्शन और विज्ञान के ग्राह्य समीकरण को काव्य में उतारने की चेष्टा करना कवि की महत्त्वाकांक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय रुचि का प्रमाण है। तृतीय अंक के कई स्थानों पर क्वन्तम सिद्धान्त के सन्दर्भ में परमात्मवाद, अधुनातन अन्तरिक्ष-विज्ञान के सन्दर्भ में ग्रह-निकट-रहस्य और अल्ट्रा-एक्स-रे के आविष्कार के बाद दिखाई देनेवाली शरीरस्थ मूल चेतना को काव्यात्मक ढंग से रखने की चेष्टा भी है। दिक् और कास के अलावा कवि के 'गति' (मोशन) पर भी अत्युच्च दार्शनिक कल्पना की है, जो विज्ञान-सम्मत भी है।

'उर्वशी' में अप्सरा धर्म और मानवी-धर्म का निरूपण

जिस तरह आलोचकों की दृष्टि में 'उर्वशी' का अनालोचित पक्ष दर्शन और विज्ञान समन्वय रहा है। उसी तरह आज तक 'उर्वशी' के अप्सरा-धर्म तथा मानवी धर्म का निरूपण नहीं हुआ है। अतुलनीय प्रखर समीक्षक डॉ. कुमार विमल ने पहली बार अत्यंत गहराई के साथ इन पक्षों पर तत्व चिन्तन किया है। आज नारी सशक्तीकरण अथवा नारी-विमर्श विश्वस्तरीय आन्दोलन हैं। सेक्स, प्रेम, विवाह, क्वारा मातृत्व, अविवाहित संगिनी, पत्नी, प्रेमिका, आधुनिका और अत्याधुनिका के मकड़जाल में युवतियाँ भटक रही हैं। वे प्रदर्शन, विज्ञापन और उत्तर-उत्तर आधुनिक नायिका बनने के लिए न तो मातृत्व का सुख प्राप्त करना चाहती हैं, और न किसी एक पुरुष के साथ बँधकर रहना चाहती हैं। उनका मन अप्सरा का हो गया है, जो तन के गठित शिल्प की चिन्ता करता है, नारी (पत्नी) धर्म की आकांक्षा नहीं रखती

है। किन्तु, 'उर्वशी' के माध्यम से दिनकर ने अप्सरा धर्म का विरोध किया है और मानवी धर्म की प्रतिष्ठा की है। उन अप्सराओं के आँचल में यशोधरा का दूध कभी नहीं उतर सकता। किन्तु, नारीत्व को ऐन्द्रिक बनाने वाली पीड़ा के समय उन्हें 'हेवि एनिस्थीसिया' चाहिए। इस तरह आज मानवी-धर्म हासोन्मुख हो रहा है और अप्सरा धर्म के प्रति अकूत आकर्षण से उद्भूत 'रोमांस' और 'लैमर' दाम्पत्य का स्थान ले रहे हैं। आज अप्सरा-धर्म के आकर्षण ने मातृत्व और वात्सल्य के प्रति सुदीर्घ काल से प्रचलित मानवी-दृष्टिकोण को बदल दिया है। महारानी औशीनरी को पुत्र चाहिए। पुरुरवा को पुत्र चाहिए। पुत्र के लिए यज्ञ होगा किन्तु लाख वर्जनाओं के बावजूद उर्वशी ने पुरुरवा को पिता बनने का सौभाग्य दिया। मेनका के अतिरिक्त सभी सखी-अप्सराओं ने उर्वशी को डराया, रोका, मानवी-धर्म के अनुपालन की कठिनाइयों से अवगत कराया, किन्तु दिनकर ने उर्वशी को अप्सरा धर्म से भिन्न दिखलाकर सनातन भारतीय नारी के मातृत्व-सुख को श्रेष्ठ सिद्ध किया है और ठहरे हुए मातृत्व और वात्सल्य को पुनरुज्जीवित कर मानवता के एक भीषण आगमिष्यत् अमंगल का निवारण किया है। (पृष्ठ : 110144)

समीक्षित पुस्तक के अन्य अतिरिक्त वैशिष्ट्य

(क) **कुछ दुर्लभ जानकारियाँ** दिनकर की पहली कविता सन् 1924 ई. में 'छात्र-सहोदर' (जबलपुर) में प्रकाशित हुई थी। सन् 1928 ई. में प्रकाशित 'विजय सन्देश' नामक दिनकर के प्रथम कविता-संग्रह (17-18 पृष्ठों की काव्य-पुस्तिका) का प्रकाशन श्रीकृष्ण प्रेस, पटना से हुआ था। इसके बाद के 'वीरबाला' और 'मेघनाद-वध' दो अधूरे खण्डकाव्यों की पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध नहीं हैं। दिनकर के मोकामा विद्यालय के हिन्दी-शिक्षक रामप्रसाद सिंह साधक उनके साहित्यिक गुरु थे। 'सीपी और शंख' में संकलित 'प्रेम' शीर्षक कविता में भी कवि का झुकाव अनल से शबनम की ओर है। दिनकर ने अपनी काव्य-भाषा को जिस रूप में गढ़ा, उसकी एक किस्म को वे बुनियादी हिन्दी कहते थे। दिनकर के सहपाठी कवि कलक्टर सिंह केसरी के शब्दों में "दिनकर के शब्द उड़ते हैं, मँडराते हैं। अर्वाचीन हिन्दी कवियों में महाकवि निराला को छोड़कर ऐसी पदपंखिलता अन्यत्र कहाँ मिलेगी, यह मुझे नहीं मालूम।" (मेरा सहपाठी राष्ट्रकवि, पृष्ठ : 83) 'रश्मिस्थी' दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' का मूल 'प्रणभंग' में निहित है। दिनकर बालकों के लिए बाल-रश्मिस्थी लिखना चाहते थे। किन्तु वह नहीं हो सका। डॉ. देवराज दिनकर को इस युग का 'जनतंत्री' विचारक' कहा करते थे। (द्रष्टव्यदिनकर, सृष्टि और दृष्टि, सम्पादक, गोपाल कृष्ण कौल, वातायन प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण, पृष्ठ : 252-253)

दिनकर की चुनी हुई कविताओं का अनुवाद 'सिनिज लोटोस' के नाम से रूसी भाषा की विदुषी एस.वी. युब्लिकोत्वा ने किया है।

दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' में निरूपित नियतिवाद के साथ नवीनचन्द्र सेन के नियति-सम्बन्धी विचारों का प्रभूत साम्य है जिनको नवीनचन्द्र ने 'रैवतक' नामक काव्य में व्यक्त किया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर से दिनकर बहुत प्रभावित थे। अपनी एक कविता 'गाँधी जी की भीख' में उन्होंने रवि बाबू को भारत का 'ज्ञान' और महात्मा गाँधी को भारत का 'कर्म' कहा है। (ज्योत्स्ना, पटना, अप्रैल, 1987 ई. पृष्ठ 3-6)

केवल 'उर्वशी' में ही नहीं, अन्यत्र भी प्रेम श्रृंगार के निरूपण में और प्रेम-प्रसंगों के चित्रण के दिनकर डी.एच. लॉरेन्स से प्रेरित या प्रभावित दीख पड़ते हैं।

लॉरेन्स के 'सेक्स' सम्बन्धी विचारों का प्रभाव दिनकर द्वारा निरूपित प्रेम-श्रृंगार और काम के प्रसंगों में अनेक स्थलों में स्मरणीय है 'उर्वशी' का तृतीय अंक, 'आत्मा की आँखें', 'नग्नता' (नील कुसुम), 'विदेहिनी', 'छठी संज्ञा का जागरण' (कोयला और कवित्व), 'कांगड़ी', 'सात कवच', 'हाथी रति में बहुत धैर्य धरते हैं' (सीपी और शंख), 'नारी' (हारे को हरिनाम, नर-नारी) और 'अर्द्धनारीश्वर' वर्णित (उजली आग) आदि। पुरुरवा और उर्वशी के प्रेम-प्रसंग में दिनकर द्वारा रक्त-दर्शन (Philosophy of blood) पर डी-एच. लॉरेन्स का पूरा प्रभाव है। (पृष्ठ : 150160, अर्द्धनारीश्वर: दिनकर।)

'अर्द्धनारीश्वर : दिनकर' समीक्षा-ग्रन्थ का 'परिशिष्ट' अनेक सूत्रात्मक नवीन तथ्यों को तलाशनेवाला शिखर चिन्तक डॉ. कुमार विमल की गवेषणात्मक उपलब्धियों का समुच्चय है। 'शुद्ध कविता' को उन्होंने रूपभद्र निरुद्देश्यता से पूर्ण माना है।

शुद्ध कविता की चर्चा सन् 1857 ई. से प्रारम्भ हुई, फ्रेंच साहित्य (सन् 1884 ई.) में यह पॉल बैसरी द्वारा Poesic pure के रूप में व्याख्यायित हुई और अंग्रेजी साहित्य में (सन् 1901 ई.) ए.सी. ब्रैडले से द्वारा विवेचित हुई। निष्कर्ष रूप में कहा गया है कि आधुनिक युग तक आते-आते निरुद्देश्य रचना-दृष्टि रूपभद्र बनकर सर्जनात्मक साहित्य के क्षेत्र में शुद्ध कविता (Pure poetry) के नाम से फैल गई। दिनकर ने भी 'शुद्ध की कविता की खोज' की। (पृष्ठ : 169)

डॉ. विमल की दृष्टि में दिनकर नवजागरण के ओजस्वी प्रवक्ता थे वे अपने युग और अपने समीकालीन युग पुरुषों के अच्छे चारण तथा वैतालिक थे।

'उर्वशी' के लिए भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार (सन् 1973 ई.) पानेवाले दिनकर के लिए पुरुरवा का कथन 'उर्वशी'! अपने समय का सूर्य हूँ मैं' पूर्णतः सार्थक है। (पृष्ठ : 176-177) 'हारे को हरिनाम' पराजय-बोध की बहुसंख्यक कविताओं का संकलन है। वीर और श्रृंगार रस का अप्रतिम गायक शान्त रस का कवि बन गया है। अपनी 'डायरी' में उन्होंने स्वीकार किया है कि ढलती उम्र के अनुसार उनका अहंकार

दबता गया। उनका गर्व का दर्प खर्च होता गया तथा वे शोक एवं संताप से ग्रसित होकर वास्तविक जीवन की समस्याओं से पराजित होने के कारण 'हारे को हरिनाम' तक पहुँच गए। वस्तुतः 'परशुराम की प्रतीक्षा' (1963 ई.) के कुछ वर्षों बाद ही दिनकर की ओजपूर्ण भाषा निर्वेग में बदल गई। दिनकर की डायरी में जो दो-एक युद्ध कविताएँ मिलती हैं, वे इस वचन को प्रमाणित करती हैं। (द्रष्टव्य : दिनकर की डायरी पृष्ठ : 270-273)

'मेरी बाँह में मारुत, गरुड़, गजराज का बल है' कहने वाला कवि अपने को 'शोक का संतान' कहता है। उतनी बात सच है कि 'हारे को हरिनाम' में कवि के देवता का निर्वेद है। स्वयं दिनकर ने उसे अपनी रचनाओं में 'कवितावली' (तुलसीदास) की संज्ञा दी है। (पृष्ठ, 178-181)

मूल्यांकन निष्कर्ष : लगभग दो सौ पृष्ठों का यह नातिदीर्घ शोध समीक्षा ग्रंथ एक तरह से दिनकर के काव्य-साहित्य का सूत्रात्मक साहित्य कोश है जिसमें भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतियों का आवश्यकतानुसार विनियोग किया गया है। अद्यावधि एक ही पुस्तक में दिनकर की सम्पूर्ण काव्य-चेतना की व्यावहारिक समीक्षा का एकत्रीकरण पुस्तक की दुर्लभ विशेषता है। अपनी ढलती उम्र में मनीषी साधक डॉ. कुमार विमल ने दिनकर के काव्य-साहित्य के लिए कालजयी समीक्षा प्रस्तुत कर ऐसा अभूतपूर्व कार्य किया है, जो सर्वथा प्रशंसनीय और स्तुत्य है। अनुकरणीय इसलिए नहीं कि ऐसी समीक्षा पुस्तक 'न भूतो' और भविष्य की मंगल कामना नहीं हो, तो 'न भविष्यति' कहने में मुझे किसी तरह का संकोच नहीं है। क्षमा माँगते हुए कहना चाहूँगा, डॉ. कुमार विमल भी स्वयं अब उसे दुहरा नहीं सकेंगे। 'सौन्दर्यशास के तत्त्व' एक हाथ में लेकर किसी के दूसरे हाथ में अब 'अर्द्धनारीश्वर : दिनकर' समीक्षा-ग्रन्थ ही रखना होगा। मैं किसी प्रभावशाली समीक्षक के रूप में नहीं, बल्कि गुरुश्रेष्ठ के सजग पाठक के रूप में कह रहा हूँ कि डॉ. रामविलास शर्मा ने 'निराला की साहित्य-साधना' लिखकर महाकवि निराला के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है तो डॉ. कुमार विमल ने 'अर्द्धनारीश्वर : दिनकर' लिखकर दिनकर के प्रति अपनी अशेष श्रद्धा समर्पित की है। इतने यशस्वी, तपस्वी, अप्रतिम मेधावी, अजस्र धारा की तरह निर्मल चिंतक, सरस्वतीपुत्र, अगली पंक्ति के शीर्षस्थ विद्वान, समीक्षक को साहित्य के जिस किसी भी सम्मान से सम्मानित किया जाय, वह पर्याप्त नहीं है। किसी भी साम्प्रतिक विद्वान के लिए यह कृति एक चुनौती है। ऐसे साहित्यकार को पद्म विभूषण क्या, उससे भी अधिक 'वजन' की उपाधि से अलंकृत करने में विलम्ब करना किसी तरह से उचित नहीं है। मैं इस कृति को कोटिशः नमन करता हूँ और कृतिकार तो सदा नमस्य हैं ही। विज्ञेयु किम् अधिकम्।

समीक्षा

संभावनाओं की सीमाओं को लाँघने वाली अभिव्यक्ति : 'सड़क अभी दूर है'*

डॉ. विश्वास पाटील**

मैंने जॉर्ज बर्नार्ड शॉ का एक परिच्छेद पढ़ा है। उसकी बड़ी तीव्रता से याद आ रही है। परिच्छेद मूल रूप में पढ़ना ही अच्छा है। परिच्छेद किसी ओर के सम्बन्ध में नहीं खुद उनके ही सम्बन्ध में है। वे लिखते हैं, "मैं खुली सड़क पर कोड़े खाने से इसलिए बच जाता हूँ कि लोग मेरी बातों को दिल्लगी समझ कर उड़ा देते हैं। बात यूनै है कि मेरे एक शब्द पर भी गौर करें तो समाज का ढाँचा डगमगा उठे। वे मुझे बरदाश्त नहीं कर सकते, अगर मुझ पर हँसें नहीं। मेरी मानसिक और नैतिक महानता लोगों के लिए असहनीय है। उन्हें उबाने वाली खूबियों का पुंज उनके गले कैसे उतरे? इसलिए मेरे नागरिक बंधु तो कान पर उँगली रख लेते हैं या बेवकूफी से भरी हँसी के अम्बार के नीचे ढँक देते हैं मेरी बात!" बर्नार्ड शॉ के शब्दों में अहंकार की उग्र धारा है ऐसा कह कर हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि इन शब्दों में संसार का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सत्य कहा गया है। एक कड़वा सत्य, जिसे पीने और पचाने के लिए हम तैयार नहीं हैं; यह काम सुधारक का है या क्रान्तिकारी का, यह विवाद का मसला नहीं होना चाहिए। संसार का स्वभाव है कि वह चाहता है अफीम और सुधारक दोनों को परोस जाता है अंगार। बस यही अन्तर है आम आदमी और सुधारक के बीच का, लेखक और व्यंग्यकार के बीच का।

इन दिनों मैं पढ़ रहा हूँ भाई सुधीर जी ओखदे का ताजा व्यंग्य निबन्ध संकलन 'सड़क अभी दूर है।' 'यह ग्रन्थ मेज पर है और मुझे स्मरण हो रही है जॉर्ज बर्नार्ड शॉ की बात। यही बात लगभग जस की तस भाई ओखदे जी पर लागू होती है। वे समाज के व्यंग्य को देखते हैं और उसे अपनी शैली में प्रस्तुति देने के लिए प्रयत्नरत हैं। व्यंग्य

* सड़क अभी दूर है (व्यंग्य निबंध), ले. सुधीर ओखदे

**डॉ. विश्वास पाटील, कृष्णावरी, सरस्वती कॉलानी, शाहादा, नंबुरबान, 425 409

का लिखना इन दिनों एक स्वतंत्र सत्ता का लेखन है। व्यंग्य स्वस्थ समाज का 'सगा नहीं है। जब आमतौर की घटनाएँ और रोजमर्रा की बातें हमारे मन को मथ दें तब व्यंग्य के लिए विषय बहुत होते हैं और व्यंग्य के लिए अधिकांश विषयों का होना स्वस्थ समाज का लक्षण नहीं है; लक्ष्य तो वह हो ही नहीं सकता है। व्यंग्यकार सच बोलता है। सत्य केवल सुननेवाले को ही व्यथित करता हो सो बात नहीं, सत्य का उच्चारण करने वाले के भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं और वह भी अंतर्बाह्य चीरा जाता है। व्यंग्यकार की दुहरी जिम्मेदारी होती है। एक तो ऋषि प्रज्ञा का ध्यान कर सत्य का उच्चारण करना और उसे सुधार की खूबियों से भरपूर बनाए रखना। वह बहुत सावधानी से सत्य भी कहे और अप्रिय न कहे ऐसी चतुरता नहीं बघारता। वह सत्य कहता है और उसे अपने मूल रूप में ही यथावत प्रस्तुत करता है। इसमें बहुत बार उसकी कलम का कोड़ा बरस उठता है समाज पुरुष की पीठ पर और वह स्वयं भी तो समाज पुरुष के ही समान तिलमिलाहट से भर जाता है। यह तिलमिलाहट भाई सुधीर जी के लेखन का विशेष गुण है। यही वजह है कि उन्होंने प्रस्तुत संकलन में निबंध का बोध रखने के बजाए कहानी का भाव रखा है। इस कारण इसमें संवादात्मकता आ गई है। यह कोई बहुत महत्त्वपूर्ण मुद्दा नहीं है कि यह लेखन निबंध है या कहानी? महत्त्वपूर्ण यह है कि इसमें व्यंग्यात्मकता की प्रणाली किस प्रकार से चित्रित हुई है। इसमें व्यंग्य का माद्दा कितना महत्त्वपूर्ण है। रचना का मुख्य आशय और शैली अगर एक निश्चित विषय का समाधान करती है तो यह चर्चा केवल काव्यशास्त्रीय या सैद्धांतिक रह जाती है। सुधीर जी का लेखन इस विवाद के घेरे से मुक्त है, यह इस लेखन की मुख्य ताकत है। व्यंग्य विनोद का एक व्याकरण है। व्याकरण के सूत्र हैं कि आलोचना से आरंभ न किया जाए, बराबर आलोचना न की जाए और सबसे काम की बात यह है कि बिना सुधार की आलोचना न की जाए। भाई सुधीर जी को बिना सुधार के आलोचना करने की आदत नहीं है और यह बात उनके व्यंग्य लेखन की मुख्य लब्धि है। उसकी उपलब्धि है उनकी सहज सुन्दर शैली।

प्रस्तुत संकलन की 'परत दर परत' शीर्षक से लिखी भूमिका में मान्य डॉ. तेजपाल जी चौधरी कहते हैं "सुधीर जी के व्यंग्य की सबसे उल्लेखनीय बात व्यंग्य की सहज संप्रेष्यता है। उनके चिंतन में जहाँ स्पृहणीय परिपक्वता है, वहीं शैली में अद्भुत सहजता और सरलता। कहीं-कहीं तो उनकी शैली गम्भीर से गम्भीर विषय को भी इतना सहज बना देती है कि लगता ही नहीं कि उसमें व्यवस्था के प्रति कहीं असंतोष या आक्रोश की कड़वाहट विद्यमान है। बात नीतिविहीन राजनीति की हो या कर्तव्यविहीन अधिकार की, वे बिना किसी विक्षोभ के उसे सहज भाव से कह जाते हैं।" यह सहज भाव उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का स्वभाव है; जी हाँ, संस्कार भी है। व्यावसायिक मर्यादा बोध ने उनकी कलम को शायद सरकारी लालफीताशाही और चपड़कनातियों के बारे में लिखने से रोके रखा है। धर्म के क्षेत्र में चलने वाली धांधली

और धर्म के पीठाधीशों के नकली तेवर के बारे में आम तौर पर व्यंग्यकार की कलम तेज चलती है। सुधीर जी इस क्षेत्र से अपनी कलम को अछूती रखे हुए हैं। पुलिस, सरकारी अधिकारी, राजनीतिक नेता, चिकित्सालय आज के व्यंग्य लेखन के लिए आवश्यक सामग्री परोसने वाले विषय हैं। शिक्षा जगत का आज का रूप एक इंडस्ट्री का है, सुधीर जी इस बात से भलीभाँति परिचित हैं। साहित्यिक क्षेत्र का 'अहो रूप अहो ध्वनि' का एक दूसरे की प्रशंसा करने का ढपोरशांखी निनाद भला किससे अछूता है? इस लेखन की परिधि में जीवन की आपाधापी के उन तमाम क्षेत्रों एवं क्षेत्रफलों का समावेश है जिन्होंने मानवी जीवन को समृद्ध किया है। वे निरंतर उस जीवन कक्षा का वेध करते रहे हैं जो मनुष्य की अभिव्यक्ति एवं अस्तित्व की लड़ाई के पक्षधर हैं।

संकलन का 'बाढ़' शीर्षक निबंध अपने आपमें बहुत गुणवत्ता से भरपूर है। इसे केवल व्यंग्यात्मक निबंध कह कर उसकी परिधि को कम करके नहीं देखा जा सकता है। यह निबंध हमारी संवेदना और हमारी अफसरशाही का पोंगापन न केवल अधोरेखित करता है बल्कि हमें इस बात से मुखातिब भी कराता है कि हम आज के प्रश्नों की बाबत कितने असहिष्णु और कैसे भोथरे हो गए हैं। साहेब और उसकी पत्नी दोनों की चिन्ताएँ हमारे समाज के समंजस मन और असमंजस मन की प्रतिक्रियाएँ हैं। साहेब का रुख और उनकी पत्नी का व्यवहार एक ही साथ हमारे मन के दो पंखों को उद्घाटित करते हैं। बाढ़ का मुआयना करना साहेब के लिए एक अवसर है। उनकी पत्नी के लिए यह एक शोक सांत्वना के लिए जाने के समान घटना है। इस विचार को हम किस प्रकार से समझ सकते हैं। अपने नन्हे से आकार में एक विराट संवेदना का घेरा समाए हुए यह निबंध अपने आप में एक विचारधारा का प्रवहमान रूप है। "मुझ पर केन्द्रित विशेषांक" इसी प्रकार व्यापक विषय को अपने में समेटने वाला निबंध है। इसके आरम्भ में ही लेखक लिखते हैं। "मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि अंक में मेरी रचनाधर्मिता, जीवनकार्य एवं अंतरंग जीवन परिचय के लेख मैंने स्वयं लिखे हैं और उन्हें दूसरों के नामों से विशेषांक में छपवाया है। मैं यह भी स्वीकार करने को तैयार हूँ कि अंक का समस्त खर्च, संपादक एवं पत्रिका परिवार के सदस्यगणों के दैनिक भत्तों का भार मुझ नाचीज ने सहन किया है।" (पृ. 40) यह निवेदन केवल व्यंग्य की बात है, यह उस जीवन सत्य का निश्चल प्रकटीकरण है जो कोई बता देता है और कोई नहीं बताता है। यह बताने की हिम्मत और ईमानदारी लेखक को उसके लेखकीय पद पर प्रतिष्ठित करती है। यह कितने लोगों के बारे में होता है इसे बताने की कोई आवश्यकता नहीं है, छिपाने की भले ही हो। यह बात इतने स्पष्टतम शब्दों में कर सकने की आवश्यकता को सुधीर जी ने अधोरेखित किया है। इन निबंधों में जो विवेचन आये हैं उन्हें केवल एक व्यंग्य की बात है कह कर या समझ कर टाला नहीं जा सकता है। इसकी गहराइयों में उतरने पर हम बहुत चिन्तित हो जाते हैं। यह नमूना देखिए "मैं उस्ताहित था कि नई सदी में कुछ भी नहीं बदला था। आज भी दूध

में पानी मिलाया था, आज भी हमने रात को बची बासी रोटियों का सुबह नाश्ता किया था, आज भी सामने की झोंपड़पट्टी में बच्चे भूख से बिलख रहे थे, आज भी समाचारपत्रों में हत्या, डकैती, चोरी, भ्रष्टाचार, बलात्कार वगैरह के समाचार थे।” (पृ. 48) यह निवेदन अपने समय का वह चिह्न है जिस पर हमें रोना आए, शर्म जागे, हम अपने आपको अपदस्थ करने के लिए उत्सुकता में भर जाएँ।

इस संकलन में कुल पच्चीस लेखों का समावेश किया गया है। इनके शीर्षक, इनकी पहचान आप हैं। जरा इन शीर्षकों को देखिए। ‘दंडमेव जयते’, ‘प्रतिष्ठित गिरफ्तारी’, ‘प्रतिष्ठित हत्यारे,’ ‘बदबू अभी आ रही है’ तथा ‘खूबसूरत दुर्घटना’। इन लेखों के शीर्षक ठेठ व्यंग्य की तिकतता अपने में समाए हैं, शेष लेखों के शीर्षकों में इस प्रकार कोई भनक तथा खुशबू नहीं है। लेख के शीर्षक दरअसल निमंत्रण पत्र के समान अर्थवाही एवं आकर्षण से भरपूर हुआ करते हैं। ‘मैंने मदद के लिए मित्र की तरफ निहारा तो संयुक्त सरकार के छोटे-छोटे घटकों की तरह व्यवहार करते प्रतीत हुआ।’ (पृ. 24) यह वाक्य हमारी राजनीतिक साझेदारी और उसके भीतर छिपी हुई पोल को उजागर करता है। हम किस दरजे के स्वार्थी एवं अवसरवादी हो गए हैं इसका कच्चा चिह्न इस वाक्य में छपा और छिपा है। ‘अधिकारी होकर मास्टर की तरह व्यवहार करता है।’ (पृ. 25) यह वाक्य एक ही समय में अधिकारी एवं मास्टर दोनों के चरित्र का उद्घाटन करता है। पुलिस वाले शिक्षक की तरह व्यवहार करें तो शक के घेरे में तो आ ही जाते हैं। (पृ. 27) यह वाक्य फिर एक बार शिक्षक एवं पुलिस के स्थान को समझाते हुए दिखाई देता है। ‘इतनी गरीबी, इतनी बेरोजगारी, इतनी महंगाई, इतने आतंक के साये में वर्षों से समय बिताने वाली भारतीय जनता इतना नहीं खौलती जितना राधेश्याम जी को मैंने खौलते हुए पाया। (पृ. 31) यहाँ एक ही समय में राधेश्याम जी के निमित्त सुधीर जी ने भारतीय रग-रग में खेलने वाली समंजसता की बखिया उधेड़ दी है। एक ही वाक्य में बहुत कुछ कह सकने की यह सामर्थ्य उन्हें आने वाले कल के लिए एक आश्वस्ति प्रदान करती है। यह आश्वस्ति उनके लेखन की विशेषता है।

सुधीर जी के लेखन में सुविचारों के उपयोग उन्हें व्यंग्य के घेरे से हटा कर उसकी इयत्ता को विराट कर देता है। देखिए ये कुछ वाक्य। ‘सिसकियाँ जब भयावह बन जाती हैं तो वह ठहाकों सी लगती है।’ (पृ. 35) ‘सस्ते प्रचार से पुरस्कार तो पाए जा सकते हैं, लेकिन सम्मान नहीं।’ (पृ. 37) ‘विशेषांक रचना प्रतिभा के बल पर नहीं अपितु लक्ष्मी प्रतिभा की असीम कृपा पर निकलते हैं। (पृ. 41) ‘पद जब अपनी प्रतिष्ठा खोता है तो सोना बन जाता है और जब अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा हेतु सिपाही की तरह तैनात हो जाता है तो मिट्टी का ढेला बन कर रह जाता है। (पृ. 44) ‘परिमार्जन से न सिर्फ दोष समाप्त होता है अपितु दूषित वस्तु भी पवित्र हो जाती है।’ (पृ. 77) यह लेखन इस अर्थ में एक व्यापक संभावना अपने साथ लेकर चलता है।

संकलन का आखिरी निबंध ‘कबाड़ीवाला’ हमारे देश के भविष्य की ओर संकेत करता है, हमारी शिक्षा व्यवस्था की पोल खोलता है, हमारे मन के संवेदनशील महलू को स्पर्श करता है, हमें झकझोर कर रख देता है। एक ऐसी झकझोर जो हम पचा नहीं पा सकते हैं। व्यंग्य अंदर तक तिलमिलाहट से हमें भर देता है। एक ऐसी तिलमिलाहट जो सरे बाजार में हमारी टोपी उड़ा दे और हम भौंचक हो जाएँ, कुछ न पाएँ, कुछ सुना न पाएँ, कुछ सुन न पाएँ। एक ऐसी असहाय अवस्था जो हमारे पास अपना सब कुछ होते भी हमें निरस्त्र कर दें। जीवन के रण में निहत्था होना और फिर भी जूझते रहने को तैयार रहना यह हमारी नियति है। यह हम टाल नहीं सकते। इसे हमें झेलना ही है। हमारी विद्या और शिक्षा के कागजी प्रमाण पत्र चाहे हमारी झोली में भरे रहें लेकिन अगर हमारा ‘नोन तेल लकड़ी’ का संकट उससे दूर नहीं किया जा सकता तो उसकी अहमियत क्या है? कितनी है? ये प्रश्न सीधे भाले की नोंक की तरह हमारी ओर आक्रमणकारी मुद्रा में तेजी से आ भिड़ते हैं। यह हमारा वर्तमान है और हाँ, भविष्य भी। सुधीर जी अपने व्यंग्यात्मक अंदाज में इस सत्य से हमें वाकिफ करा रहे हैं। हम इसे चाहें या न चाहें, है तो यह हमारा ही जीवन सन्दर्भ!

प्रबुद्ध हिंदुइज्म का विमर्श*

कृपाशंकर सिंह**

पुस्तक के आरंभ में लेखक ने एक आकांक्षा व्यक्त की है, और वह है कि देवी माँ, भारत माँ और धरती माँ को इतिहास ने समय-समय पर जो घाव दिए हैं, उन घावों का उपचार करने की आकांक्षा। इन तीन माताओं के प्रति अपनी सेवा निष्ठा की पृष्ठभूमि में लेखक माता वैष्णो देवी गुफा की अपनी यात्रा का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है। शुरुआत कटरा से होती है। अपने देश में बड़े-बड़े धर्मस्थानों की दुर्व्यवस्था और उनके आसपास के माहौल में पवित्रता की जगह जो एक सड़ांध है उसे माता वैष्णो देवी की लेखक की यात्रा के दौरान हुए उसके अनुभवों से जाना जा सकता है। कटरा के बदशक्ल चेहरे का ब्यौरा देते हुए लेखक कहता है “ऐसा लगता था, गंदगी, अव्यवस्था और गरीबी के साथ-साथ इनसे उपजी असभ्यता ने कटरा के दुबले पतले चेहरे को सदा के लिए ढक दिया है। (पृ. 29) आगे बाणगंगा का जिक्र करते हुए टिप्पणी की है “उस नदी के बीच और उसके तटों पर बिखरे कूड़े कचरों ने मेरी वितृष्णा को बढ़ा दिया। वहाँ पर कचरे, रद्दी कागज, खाली कनस्तर और घोड़े की लीद पड़ी हुई थी।” (पृ. 33) वैष्णो देवी के इस प्रवास को याद करते हुए भूमिका में कहा गया है कि “यदि कोई वर्तमान भारत के नैतिक और बाह्य पतन को देखना चाहता है तो उसे कटरा से माता वैष्णो देवी के भवन तक की यात्रा करने की जरूरत है। संपूर्ण क्षेत्र बहुत ही घृणित दिखाई पड़ता है। वहाँ भारत की आध्यात्मिकता का सम्पूर्ण हनन दिखता है।” (पृ. 9)

लेखक वैष्णो देवी गुफा में कुछ क्षण व्यतीत करने के अपने अनुभव को व्यक्त करते हुए कहता है “वहाँ का परिवेश सम्मोहक था...मेरे अंतस् के कुछ कपाट खुलने

** कृपाशंकर सिंह, सी-4-86/2, सफदरजंग विकास क्षेत्र, (हौजखास), नई दिल्ली-110016; मो. 09805476883, 9868637567

* वैष्णोदेवी : आमूल परिष्कार तथा पुनर्जागृत और प्रबुद्ध हिंदुइज्म का विमर्श; लेखक : जगमोहन; किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली; मूल्य-395।

लगे, उच्चतर चेतना के असीम फलक पर उड़ने जैसा लगा।” (पृ. 50) पुजारी महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली के धार्मिक महत्त्व को बता रहे थे, कि तभी वे दुनियादारी की बातों पर आ गए। यह बताना वे नहीं भूले कि श्रीमती इंदिरा गाँधी भी यहाँ आई थीं और उन्होंने माता को छत्र चढ़ाया था। राष्ट्रपतियों और दूसरे गणमान्य व्यक्तियों के आगमन का विवरण भी देने लगे। जगमोहन सोचते हैं, “मनुष्य के अंतस् में सोई हुई गहन आध्यात्मिकता को जगाने के लिए गुफा में अनुकूल वातावरण होते हुए भी क्या वास्तव में पुजारी जी माया और तर्कहीन आस्था का प्रचार नहीं कर रहे थे?” (पृ.35)

लेखक की इस बात के लिए प्रशंसा करनी पड़ेगी कि वह धर्म के प्रति गहन आस्था रखते हुए भी धर्मस्थानों के आस-पास के माहौल के प्रति अत्यंत सजग है। वैष्णो देवी स्थान के इर्द-गिर्द मंडरा रहे दलालों और उस पूरे परिदृश्य को देखते हुए लेखक को लगता है कि “समकालीन भारतीय समाज अराजकता और भ्रष्टाचार के गर्त में तेजी से डूबता जा रहा है।” (पृ. 54)

लेखक ने अध्याय छह में वैष्णो देवी से सम्बन्धित कुछ लोकप्रचलित दंतकथाएँ दी हैं। इन दंतकथाओं को पुस्तक में क्यों रखा गया है, यह ठीक से समझ में नहीं आता। पुस्तक की विषय वस्तु को देखते हुए दंतकथाओं को इसमें रखना अनावश्यक लगता है। लेखक का यह मानना है कि “वैष्णो देवी एक व्यक्ति नहीं एक भाव हैं एक शरीर नहीं एक आत्मा है।” (पृ. 86) तो फिर शरीर धारण करने वाली देवी को परम दुष्ट भैरों से छिपते फिरने की क्या जरूरत पड़ी? यदि दंतकथा को लीला के रूप में लें तो भी कुछ ठीक नहीं बैठता। वास्तव में नाना प्रकार की दंतकथाओं के उत्स पुराणों से हिन्दू धर्म का कोई हित नहीं हुआ है। ऊपर से हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति की तर्कशीलता उस अतार्किक घटाटोप में धूमिल होती रहती है।

जगमोहन ने ‘हिन्दू कौन थे?’ अध्याय में चार महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को उठाया है और उनके समाधान ढूँढे हैं। उनका पहला प्रश्न आर्यों की मूल धरती को लेकर है। लेखक ने विवेकानंद, बी.आर. आम्बेडकर, स्टुअर्ट एल्फीस्टन और श्री निवास आर्यंगर के उद्धरण इस तथ्य के परिप्रेक्ष्य में दिए हैं कि भारतभूमि ही आर्यों की मूल धरती रही है। साथ ही लेखक ने आर्यों की मूल भूमि भारत को लेकर कुछ गम्भीर तर्क रखे हैं। वास्तव में आर्यों की मूल धरती की पहचान के लिए तात्त्विक दो विकल्प हो सकते हैं। इनमें से एक भाषायी परिकल्पना से जुड़ता है, और दूसरा पुरातात्विक साक्ष्यों से।

भाषायी विकल्प का जहाँ तक सम्बन्ध है, इस पर विचार की शुरुआत पश्चिमी भाषाविदों ने की थी। विश्व की प्राचीनतम लिखित भाषा के नमूने संस्कृत के हैं। बाद के ग्रीक और लैटिन के नमूनों में संस्कृत से कुछ समानता मिलती है। इस समानता के आधार पर कुछ भाषाविदों ने यह अनुमान लगाया कि इन तीनों भाषाओं की जननी

भाषा कोई एक होगी। इस जननी भाषा को आद्यभारोपीय भाषा कहा गया और उससे उद्भूत संस्कृत, ग्रीक, लैटिन को भारोपीय कहा गया। विलियम जोन्स ने 1786 ई. में 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' के समक्ष भाषण देते हुए इस परिकल्पना को प्रस्तुत किया था। इस भाषायी समानता से समान जाति (रस) की परिकल्पना को बल मिला, और यह माना गया कि इन भाषाओं के बोलने वाले लोग किसी एक स्थान से भिन्न भिन्न दिशाओं में फैले। इन्हें आर्य नाम मिला। (वैसे जाति के रूप में आर्य शब्द ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में व्यवहृत हुआ है।) विलियम जोन्स ने अपने उसी भाषण में संस्कृत की संरचना को आश्चर्यजनक रूप से पूर्ण बताते हुए यह कहा कि संस्कृत ग्रीक से अधिक संपन्न और लैटिन से अधिक ज्ञान बहुल तथा शिष्ट है। संस्कृत में लिखित ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम लिखित ग्रन्थ है।

जब यह मान लिया गया कि ये तीनों भाषाएँ किसी एक आद्य भाषा से उद्भूत हुईं तो यह सवाल खड़ा हुआ कि उस आद्य भाषा के बोलने वाले कहाँ के निवासी रहे होंगे। सभी यूरोपीय विद्वानों ने माथापच्ची करते हुए अपनी पसन्द के स्थानों के नाम प्रस्तुत किए। यूरोप की जगहों से लेकर मध्य एशिया आदि स्थानों पर चर्चा का दौर चला। पर यह सर्वमान्य होते हुए भी कि संस्कृत इन तीनों में प्राचीनतम है, सबसे अधिक समृद्ध और शिष्ट है, उसमें लिखित ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम लिखित प्रमाण है, यह सब कुछ स्वीकार करते हुए भी किसी ने मूल भाषा के लिए भारत का नाम नहीं सुझाया। यह यूरोपीय विद्वानों की एक सोची समझी साजिश थी। भारत गुलाम था। किसी गुलाम देश को यह महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए कि वह दुनिया की समृद्धतम भाषा भी विरासत का मालिक है। इससे वहाँ के लोगों में आत्मगौरव महसूस करने का खतरा हो सकता था। इसलिए सबने एक सुर से मान लिया कि आर्य भारत में बाहर से ही आए होंगे।

मैक्समूलर ने 1849 से 1874 ई. के दौरान ऋग्वेद का संपादन किया था। भारत को लेकर उनकी कई पुस्तकें हैं। उन्होंने ऋग्वेद को विश्व का प्राचीनतम साहित्य कहा है, साथ में यह भी कहा कि इसी ऋग्वेद में भारतीय आर्य के साथ हिंदुत्व की जड़ें भी विद्यमान हैं। लेकिन आर्यों की मूल धरती भारत हो सकता है, इस पर वे मौन हैं। उनका मानना है कि आर्य मूल रूप से मध्य एशिया के निवासी रहे थे, और वे ही आद्यभारोपीय भाषा के बोलने वाले थे।

यूरोपीय विद्वानों में इस बात को लेकर भी बहस छिड़ी कि भारत में आर्य एक बार में ही आ गए या कि दो बार में आए। उन्हीं की लीक पर चलते हुए भारतीय कम्यूनिस्ट इतिहासकारों ने भी उनके सुर में सुर मिलाकर उसी राग को अलापने में अपनी विद्वत्ता प्रदर्शित की। आज, जब कि वैज्ञानिक आधार पर अब यह तय हो गया हो कि आर्य इसी भारत भूमि के मूल निवासी रहे हैं, इन लेखकों ने अपने हठ को छोड़ा नहीं है।

ऋग्वेद में बहुत-सी ऐसी ऋचाएँ हैं जिनमें ऋषियों ने भारतभूमि को अपनी मातृभूमि मानकर इसके प्रति श्रद्धा और सम्मान को व्यक्त किया है। ऋग्वेद के अत्यन्त प्राचीन ऋषियों में विश्वामित्र ने भारतभूमि और भारत जन को लेकर जो ऋचा कही है, वह बहुत से दुराग्रहों का उत्तर है, वह ऋचा है

य इमे रोदसी उमे अहामिन्द्रमतुष्टवम्।

विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्॥ (3.53.12)

हे कुशिक पुत्रों, जो यह दोनों आकाश और पृथिवी है, उनके धारक इन्द्र की मैंने स्तुति की है। स्तोता विश्वामित्र का यह स्तोत्र (ब्रह्म-मंत्र-ऋचा) भारतजन की रक्षा करता है।

यहाँ यह जो शब्द 'भारत' है, भारत जन की भूमि के लिए यहीं से उसके उत्स को मानना चाहिए। 'भारत' नाम ऋग्वेद में आए 'भारत' या 'भरतों' से आरम्भ होता है, न कि बाद के किसी भरत राजा से।

जगमोहन ने अपनी पुस्तक में भारत ही आर्यों की मूल भूमि है, इसे सिद्ध करने वाले वैज्ञानिक अनुसंधानों का उल्लेख किया है। कीविशील्ड के नेतृत्व में प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के एक दल ने जीन के 'आनुवंशिक उत्तराधिकार पहलू' का विस्तृत अध्ययन करने और माइटोकांड्रियल डी.एन.ए. जांच संपन्न करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि पश्चिमी यूरोशियाई लोगों से भारतीयों का जीन पूल बहुत ही भिन्न है। पश्चिमी यूरोशियाई लोगों में जो विशेष माइटोकांड्रियल डी.एन.ए. पाया जाता है वह सत्तर प्रतिशत यूरोपीय लोगों में मौजूद है, लेकिन वहीं पर यह केवल 5.2 प्रतिशत भारतीयों में मौजूद है। यदि भारत पर आर्यों का आक्रमण लगभग तीन हजार वर्ष पहले हुआ होता तो पश्चिमी यूरोपीय लोगों के जीन में माइटोकांड्रियल डी.एन.ए. का जो प्रतिशत है वही प्रतिशत भारतीय लोगों में भी देखने को मिलता।" (पृ. 158)

जगमोहन ने सरस्वती नदी के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाने वालों को अपने तर्कों से अच्छा उत्तर दिया है। उन्होंने पाकिस्तान के पुरातत्त्वविद रफीक मुगल के मत को उद्धृत करते हुए सरस्वती की विद्यमानता को स्वीकार किया है। उन्होंने साहित्यिक, पुरातात्विक, भूगर्भीय और जल वैज्ञानिक साक्ष्यों से यह सिद्ध किया है कि सरस्वती वास्तविक नदी रही है। "उपर्युक्त साहित्यिक, पुरातात्विक, भूगर्भीय वैज्ञानिक और जल वैज्ञानिक तथ्यों के मद्देनजर कोई पूर्वग्रह से ग्रस्त हठी विद्वान ही सरस्वती को एक काल्पनिक नदी बताएगा।" (पृ. 170)

हड़प्पा सभ्यता और ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना से सम्बन्धित चर्चा में जगमोहन का मानना है कि "ईसा पूर्व 3100 साल से पहले प्राग हड़प्पा/सिंधु सरस्वती सभ्यता का उदय हुआ। मोटे तौर पर इसी अवधि में ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं की

रचना हुई। इसके बाद ईसा पूर्व 3100 से 1900 साल के बीच विकसित हड़प्पा सिंधु सरस्वती सभ्यता के काल में वेदों के अधिकांश ऋचाओं की रचना हुई।” (पृ. 171)

ऋग्वेद की रचना को लेकर मेरा सोचना यह है कि ईसा पूर्व तीन सहस्र वर्ष से काफी पहले लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व ऋग्वेद की रचना का आरम्भ हुआ होगा। ऋग्वेद के मंडलों की भाषा और विषय वस्तु के विविध आयामों को देखने से लगता है कि ऋग्वेदिक ऋचाओं की रचना का काल-विस्तार काफी लम्बा रहा होगा। कितना लम्बा यह कहना कठिन है।

सिंधु-सरस्वती सभ्यता की लिपि यदि पढ़ी जा सकती तो यह समझना आसान हो जाता। इसके अलावा भी बहुत से रहस्य खुलते। पर अब तक इसमें किसी भी तरह की सफलता नहीं मिली है। भविष्य में भी उस लिपि को पढ़ना कभी सम्भव हो सकेगा, इसमें मुझे कोई यकीन नहीं है। कारण यह है कि लिपि प्रतीकात्मक चिह्नों का एक समूह होती है। और वे प्रतीकात्मक चिह्न उसके बोलने या प्रयोग करने वालों तक ही सीमित होते हैं। आसान ढंग से कहें तो शब्द-अर्थ का सहसम्बन्ध ऐच्छिक होता है, जो उसके बोलने वालों तक ही महदूद रहता है। इसलिए उस भाषा को जानने समझने वाला व्यक्ति ही उसे समझता है कोई अन्य शब्द-अर्थ का तालमेल नहीं बिठा सकता। वह कभी भी नहीं समझ सकता। आज भी किसी अनजानी भाषा के शब्दोच्चारण या लेखन से उसके अर्थ को कहाँ जाना जा सकता है? यही सच सिंधु-सरस्वती काल की लिपि के बारे में भी है। कितनी भी बौद्धिक कसरत की जाए, उसमें निहित अर्थ को जाना नहीं जा सकता। अभी तो ठीक से यह भी पता नहीं है कि उसे बाईं ओर से दाईं ओर को लिखते थे या दाईं ओर से बाईं ओर को।

हिंदूइज्म को परिभाषित करते हुए लेखक ने ऋग्वेद की इस विशेषता की ओर संकेत किया है कि ऋषियों ने प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों में दैवी शक्ति की पहचान की है। उन्होंने इस ओर भी संकेत किया है कि ऋग्वेद में एकेश्वरवाद की स्थापना की गई है। इस पर और बल देने के लिए उन्होंने उत्तर वैदिक साहित्य और उपनिषदछांदोग्य, वृहदारण्यक, कठोपनिषद्से उद्धरण दिए हैं।

जहाँ तक ऋग्वेद की बात है, पहले मंडल में ऋषि दीर्घतमा औचशय की ऋचा में कहा गया है कि “एक सत् (एकं सत्), ज्ञानी जन उसी को अनेक प्रकार से वर्णित करते हैं। उसी एक सत् को इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं, और वह दिव्य सुपर्ण और गरुत्मान् है।” ऋचा इस तरह है

इंद्रं मित्रं वरुणमानिमाह रथो दिव्यः स सुपर्णो मरुत्मान् ।

एकं सद्द्विप्रा बहुधा वदन्त्याति 'यम' मातारिश्वान् माहुः॥ (1,164,4,6)

हिंदूइज्म की मूल संरचना जिन अवधारणाओं से बनी है, जिन्हें उपनिषद् के ऋषियों ने प्रस्तुत किया है, उसका निचोड़ जगमोहन ने इस रूप में रखा है—“इस

ब्रह्माण्ड का सम्पूर्ण जीवन दिव्य है, आत्मा परमात्मा से अभिन्न है, यह ब्रह्माण्ड एक विराट् सूत्र है, जिसमें जीवन और प्रकृति के सभी तत्त्व अभिन्नता से गुँथे हुए हैं। सतह पर मौजूद द्वैत के नीचे सर्वव्यापी अद्वैत मौजूद है; और सभी उस एक में हैं तथा वही एक सब में है। इन अभिधारणाओं से हिंदूइज्म की मूल संरचना बनी है।” (पृ. 177)

पुस्तक में जगमोहन ने ऐसे चार क्षेत्रों का उल्लेख किया है जिनमें ‘हिंदूइज्म के सिद्धांत के नाम पर अमानवीय प्रथाओं का अनुसरण किया गया है।’ वे चार क्षेत्र हैं नारी की स्थिति, सतीप्रथा, मंदिरों के रख-रखाव और तर्कहीन कर्मकाण्ड तथा शूद्रों और दलितों का दुखद शोषण।

प्राचीन ग्रन्थों में नारी की स्थिति पर विचार करते हुए लेखक ने नारी से सम्बन्धित परस्पर विरोधी धारणाओं को सामने रखा है। ये परस्पर विरोधी धारणाएँ मनु संहिता में भी हैं और महाभारत में भी। जहाँ एक ओर नारी को शीर्ष स्थान पर बिठाया गया है, वहीं दूसरी ओर उसे हर प्रकार से पुरुष पर आश्रित और पुरुष की दासी बताया गया है। उदाहरण के लिए महाभारत में कहा गया है कि “नारी ही वह शाश्वत क्षेत्र है, जहाँ परमात्मा अवतार लेते हैं,” दूसरी ओर “नारी को चंचल, अविश्वसनीय और वासनामयी प्राणी के रूप में प्रस्तुत किया गया है।” (186-187)।

विवेकानंद ने कहा है... “आर्य जाति में नारीत्व का आदर्श मौजूद था। उस समाज में नर और नारी, दोनों पुरोहित हुआ करते थे।

इस सम्बन्ध में स्मरणीय है कि ऋग्वेद के प्रणेताओं में पुरुष ऋषियों के अतिरिक्त नारी ऋषि (ऋषिकाएँ) भी रही हैं। जैसे ब्रह्मवादिनी घोषा जो कक्षीवात ऋषि की पुत्री थीं और स्वयं भी ऋग्वेदिक ऋचाओं की रचयिता थीं। दसवें मंडल के दो सूक्तों (10, 39, 10, 40) की रचना घोषा ने की है। लोपामुद्रा वसिष्ठ के भाई अगस्त्य ऋषि की पत्नी थीं। पहले मण्डल में पति के साथ उनका संवाद है। जुहु, यमी वैवस्वती, शची पौलोत्री, अपाला आत्रेयी आदि ऋषिकाओं ने ऋग्वेद में अपना योगदान दिया है। दसवें मंडल में पति अपनी नव विवाहिता पत्नी से कहता है—“तुम्हारा हाथ सौभाग्य के लिए पकड़ता हूँ। पति-पत्नी गृहस्थ रूप में ऋत् और सत्कर्म के साथ हों।”

जगमोहन ने अपनी पुस्तक में तंत्रवाद पर संक्षिप्त चर्चा के दौरान यह कहा है कि, “आम तांत्रिकों की सोच और क्रियाकलाप में हिन्दूइज्म का बृहत्तर और गहन भाव कहीं खो गया है, इसके स्थान पर गुप्त रूप से किए जाने वाले निरर्थक कर्मकांड हो गए हैं।” (पृ. 187)

लेखक ने पुस्तक के अध्याय पन्द्रह में हिन्दू धर्म में सुधार की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए उसके तीन स्तर बताए हैं। पहले स्तर में वेदों, उपनिषदों और गीता तथा वेदांत दर्शन को हिंदूइज्म को आदर और श्रद्धा दिलाने वाला केन्द्रीय तत्त्व बताया है। “इसमें ही हिंदूइज्म की आत्मा और उसके मौलिक तत्त्व निहित हैं।”

दूसरे स्तर में माननीय सर्वोच्च न्यायालय के उस प्रसिद्ध फैसले को उद्धृत किया गया है जिसमें विभिन्न मतों और धर्म-सुधारों में अन्तर दिखाई पड़ने पर भी उन “अंतरों के बीच एक वर्णानातीत सूक्ष्म एकता” को अंधविश्वासों, कुप्रथाओं, रूढ़ियों, कर्म काण्ड में और समय के अंतराल में उनमें जोड़े गए नए-नए पाखण्डों की ओर संकेत किया है। जिनको समाप्त करने के लिए अभियान की जरूरत को रेखांकित किया है। लेखक का मानना है कि तमाम तरह की कुप्रथाओं को समाप्त करने के लिए “एक सशक्त सुधार आन्दोलन शुरू करने की आवश्यकता है।” (पृ. 220)

विभिन्न मन्दिरों में व्याप्त अव्यवस्था और गंदगी से सम्बन्धित अपने अनुभव के बाद लेखक का मानना है कि “मुझे इसमें तनिक संदेह नहीं कि प्रमुख मन्दिर परिसरों के लिए एक साथ सुधार के कदम उठाने से देश के सामाजिक-आर्थिक सांस्कृतिक परिवेश में मौलिक उत्थान होगा। इससे देश की एक नई छवि बनेगी जो स्वस्थ परम्पराओं और आधुनिकता के संगम के साथ पुनरुत्थानकारी और उज्ज्वल होगी।” (पृ. 224)

जगमोहन ने जम्मू कश्मीर के राज्यपाल की हैसियत से वैष्णो देवी स्थल और उसके आसपास के क्षेत्र में सुधार और परिष्कार संबंधित जो कार्य किए हैं, उन कार्यों की सराहना एक स्वर से सभी ने की है। इसका कुछ विवरण पुस्तक में दिया गया है। वैष्णो देवी मन्दिर की व्यवस्था और परिष्कार सम्बन्धी कार्य का उदाहरण लेकर यदि देश के दूसरे मन्दिरों में प्रबंधन सम्बन्धी सुधार कार्य किए जाएँ तो निश्चित रूप से वहाँ आने वाले श्रद्धालुओं में उत्साह और पवित्रता का संचार होगा।

इस पुस्तक के अवदान के बारे में थोड़े में यदि कहना चाहे तो कह सकते हैं कि पुस्तक हिन्दू विमर्श के लिए एक नया आयाम प्रस्तुत करती है।

यह मनोजगत का उपन्यास है*

महेश दुबे**

जीवन धन, अधिकार और वैभव से समृद्ध नहीं होता। वह समृद्ध होता है आन्तरिक संपन्नता से। इस अर्थ में जगन सिंह का उपन्यास ‘अस्वीकार’ विपन्न पात्रों और उनकी साधारणता की कहानी है। व्यापक अर्थों में यह आज के मनुष्य की साधारणता का विराट कथात्मक रूपक है।

उपन्यास का शीर्षक सांकेतिक और सारगर्भित है। अस्वीकार में जो ऋणात्मकता की ध्वनि है, वह सारे उपन्यास में पसरी हुई है। सारे पात्र एक-दूसरे का अस्वीकार करते हैं, फलस्वरूप पूरे उपन्यास में एक प्रकार का अलगाव-बोध व्याप्त है। यह अलगाव-बोध के ‘एलियनेशन’ से भिन्न है। यह नितान्त भारतीय परिवेश का अलगाव-बोध है, जिसमें असंपृक्त पारिवारिकता है, संसार है, संसार का प्रपंच है, वितृष्णा है, विरक्ति है। इसलिए उपन्यास का जागतिक परिदृश्य कटु सामाजिक यथार्थ से विन्यस्त है, जो सभी पात्रों के साझे का संसार है।

उपन्यास पढ़ते हुए जार्ज लूकाच का कथन याद आता है ‘उपन्यास का जन्म तब होता है, जब मनुष्य और संसार के बीच समरसतापूर्ण सम्बन्ध भंग हो जाता है। यह एक ऐसी दुनिया का महाकाव्य है, जिसे ईश्वर छोड़ कर चला गया है।’

और ऐसे ही श्रीहीन, विषमता से परिपूर्ण परिवेश में लिपटा है ‘अस्वीकार’ का कथानकजिसमें कई भावपूर्ण शेड्स उभरते हैं और शीघ्र डूब जाते हैं। शेष रह जाती है गार्हस्थ्य बेचैनी और पारिवारिक विकलता। यह अपशेष ही उपन्यास की ताकत है। उपन्यास के लिए कथानक ही सब कुछ होता है। यह उपन्यास भी कथानक प्रधान है। भाषा, शैली और प्रस्तुतिसब उसके उपादान हैं। उपन्यास में पात्रों की यात्रा के साथ पाठक जैसे-जैसे आगे बढ़ता हैवैसे-वैसे कथा का विस्तार होता जाता है।

* अस्वीकार, ले. जगन सिंह 2009, पृ. सं. 272, मू. 357.00, नमन प्रकाशन, 4231/1 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली 110002

** प्रो. महेश दुबे, 1102, साई-अंश, प्लॉट नंबर-7, सेक्टर-11, सानपाडा, नवी मुम्बई, महाराष्ट्र-400705

उपन्यास में न तो उपकथाओं का अन्तर्गुम्फन है और न ही कथाओं का कभी न खत्म होने वाला सिलसिला। सीधे-साधे शब्दों में यह दारजी के परिवार की कहानी है। दारजी यानी गोपाल सिंह वल्द प्रीतम सिंह, मकान नंबर पचपन, सेक्टरसात, शहर...? इस परिवार में हैं दारजी की पत्नी, माँ और उनकी पाँच सन्तानें। तीन लड़कियाँ और दो पुत्र!

दारजी के रूप में लेखिका ने एक अद्भुत पात्र सिरजा है। जीवन की सच्चाइयों के सामने एक हारे हुए खिलाड़ी की तरह खिसियाई-सी जिन्दगी जीते हुए दारजी को अपनी ही जिन्दगी से शिकायतें ही शिकायतें हैं

*मेरे अन्दर अभी वो शख्स भी जिन्दा है जो
सिर्फ जीने का गुनहगार रहा है बरसों।
स्वभाव से रागी, मन से अनुरागी और व्यवहार से विरागी*

स्वभाव से रागी, मन से अनुरागी और व्यवहार से विरागी दारजी एक स्मृतिजीवी पात्र है। वह कंजूस और उदासीन प्रवृत्ति का है। उसे समझना जितना सरल है, उतना ही कठिन भी है

*खुद अपने आप से बिछुड़ा हुआ हूँ मुदत से
किसी का दाखिला दुश्वार है मेरे अंदर।*

पर दारजी की चरित्र की सकारात्मकता को भी लेखिका ने कुशलता के साथ छोटे-छोटे प्रसंगों के माध्यम से चित्रित किया है। जुड़वाँ पोटियों के जन्म वाला प्रसंग ऐसी ही एक स्थिति है, जब :

“दारजी बहुत खुश थे। आँखें मुस्करा रही थीं। हमेशा बनी रहनेवाली भृकुटी की रेखाएँ नर्म और नम थीं।” प्रसन्नता से वे दूसरों के व्यंग्य को निरुत्तर करते हुए कहते हैं : “बड़ी होंगी। सहुरे (ससुराल) जाएँगी। दो घरों में दीए जलेंगे।”

दारजी अपनी लड़कियों के पढ़ने पर भी खुश होते हैं—“तुम लोगों को अपने आप पढ़ते देखता हूँ तो सोचता हूँ, मैं कितना भाग्यवान हूँ।”

कहानी के केन्द्र में दारजी की पत्नी यानी माँ की विशिष्ट भूमिका है। पूरी कहानी उसी के आसपास घूमती है। गृहस्थी की भागमभाग और गोबर में लगी माँ सहना और खटना जानती है। परिवार के बड़े बेटे(भाई सा.) के व्यवहार में एक प्रकार की हिचकिचाहट और तटस्थता है। वह, परिवार, पत्नी और संगीत में संतुलन बनाने के प्रयासों में ही, जरूरत से ज्यादा दबू होकर पत्नी के निर्णयों को चुपचाप स्वीकार करता चला जाता है और परिवार से दूर होता जाता है। वह, बहनों को बाप की बलाएँ समझता है और कहता है : “इसकी ये पेंडिंग फाइलें कौन निपटाएगा?”

और भाभी यानी बहू जिसे दारजी घर की रौनक समझते हैं, वह दारजी की तमाम कोशिशों के बावजूद भी परिवार के लिए पराई ही बनी रही। लड़कियों को माँ

से शिकायत है कि वह उसी बेटे की है जो उसे अपने पास नहीं रखना चाहता। परिवार की तीनों लड़कियाँ एक दूसरे से अलग। बड़ी दी का चरित्र यह स्थापित करता है कि परपीड़क होना भी जीवन की एक वृत्ति है। युंग ने जिसे अधिकार-भाव कहा है, दीपो या छोटी दी उसी का प्रतिरूप है। मीती में अवसाद की गहनता का चरम देखा जा सकता है। उसकी आत्मपीड़ा पाठकों को श्लाघ्य प्रतीत होती है। इन पात्रों के कारण ही उपन्यास का मनोवैज्ञानिक पक्ष सबल है। यह मनोजगत का उपन्यास कहा जा सकता है।

पूरे उपन्यास में एक विरागात्मक आवेश बिखरा हुआ है, जिसमें सभी पात्रों ने अपने-अपने रंगों का आवेग भर दिया है। निखिल के रूप में एक ऊर्जावान, व्यवस्थित और संतुलित सोचवाला किरदार उपन्यास में है, जो ऋणात्मकता के बीच सकारात्मकता का प्रतीक है। निखिल जैसे पात्र को, लेखिका ने अत्यंत संयम के साथ प्रस्तुत कर प्रभावी बनाया है। यूँ तो ये सारे पात्र साधारण हैं और सामान्य पारिवारिक चरित्र हैं और उनका यह साधारणपन ही विशिष्ट बन गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसा लेखिका के कौशल से ही संभव हो पाया है। पात्रों की वैयक्तिक यात्रा एक ‘परवेजिव थीम’ है, जो घर-परिवार और स्वयं के साथ तनावों और संघर्षों की अभिव्यक्ति है।

इटली के लेखक तुडगी पिरादेलो (1867-1936) ने लिखा था : ‘अनुभव करना ही दुखी होना है।’ जगन सिंह का यह उपन्यास भी एक संताप की तरह चलता है और एक कारुणिक अन्त पर समाप्त होता है। सारे पात्रों के पास अपने-अपने अनुभवों का छोटा या बड़ा संसार है और सबके सब अपनी-अपनी तरह से दुखी हैं।

आत्मीय स्नेह के पारिवारिक प्रसंगों के कुछ चित्रण परिवार में बनी संवादहीनता की एकरसता को तोड़ते हैं। पुलिया पर फालतू लड़कों के साथ बैठने पर छोटे की बड़े भाई और दारजी ने अच्छी खासी पिटाई कर दी थी। रात को खाने के वक्त उसे घर में न पाकर दारजी बेचैन हो उठे और मीती को साथ लेकर उसे ढूँढने निकले। मिलने पर :

“दारजी ने उसे बाँहों में भींच लिया और सिसक उठे। छोटे पता नहीं क्या सोचते रहे। शायद रोते रहे। मीती ने आँखें पोंछकर दारजी की पीठ पर हाथ रखा दारजी आइए घर चलें।

दार जी उठे।

चल छोटे उसने छोटे का हाथ पकड़ कर खींचा।

छोटे आज्ञाकारी बालक की तरह उठे और साथ-साथ चलने लगे।”

या फिर जब छोटे कमाने लगे तब

“भाई साब फिर से दार जी के अंतरंग हो गए। भाभी जो कभी माँ को देख कर अंदर चली जाती थीं, अब मां से ‘जी’ कह कर मुखातिब होने लगीं। बच्चे चाचा के कंधों पर चढ़ कर जेबों की तलाशी लेने लगे।”

पर ऐसी खुशियाँ परिवार के नसीब में कम ही थीं।

उपन्यास की भाषा सचेत, तराशी हुई, पात्रानुकूल और स्थानीयता से ओत-प्रोत है। उपन्यास में पठनीयता गजब की है। कथानक अपने पूरे विस्तार में कहीं भी बोझिल या उबाऊ नहीं हुआ है। संवादों के पैनेपन ने उसे रोचक बनाया है। सादृश्य चित्र-बिम्बों की तरह कथानक आगे बढ़ता है और पाठक उसमें डूबता जाता है।

उपन्यास में मानवीय संवेदना और कथानक की कलात्मकता अभिभूत करती है।

उपन्यास में बड़ी दी, छोटी दी, मीठी और माँअपनी-अपनी जगह तलाशते नजर आते हैं। उनकी यह तलाश किसी एक बिन्दु पर जाकर खत्म नहीं होती।

अपनी बुनावट, द्वंद्वात्मकता, चरित्रिक संघर्ष और भाव-सबलता के कारण 'अस्वीकार' में अपने समय और समाज का सत्य और उसकी हलचलों को महसूस किया जा सकता है।

उपन्यास अपने पात्रों के माध्यम से हमें यह सोचने को विवश करता है कि परिवार के स्तर पर हमने क्या खोया और वह कौन सी दुनिया है जिसे हमने अस्वीकार किया है। इस अस्वीकृति में शायद यह भाव भी छिपा है कि

इन्हीं मुश्किलों के बीच से निकलेगा
जीवन का कोई रास्ता(रमण कुमार सिंह)।

प्रोफेसर राजाराम शास्त्री

कैलाश चंद्र मिश्र*

बहुत सारी बातें ऐसी होती हैं जो लिखी नहीं जातीं और उन्हीं में मैं मानता हूँ प्रोफेसर राजा राम शास्त्री की याद भी है। यह ठीक है वे हमारे बीच नहीं हैं पर कोई दिन ऐसा नहीं जाता जब उनकी याद सजीव बनकर सामने न खड़ी होती हो। हजारों और लाखों चेहरों में मैं उस एक चेहरे को खोजने का प्रयास करता हूँ और पाता हूँ कि और सब हैं, केवल वे नहीं हैं।

प्रोफेसर राजा राम शास्त्री से पहली बार आज से साठ वर्ष पूर्व मेरा साक्षात्कार आचार्य नरेन्द्रदेव के कुलपति निवास पर हुआ था जब मैं आचार्य जी के साथ लखनऊ विश्वविद्यालय छोड़कर काशी अध्ययन हेतु आया था।

साँवला रंग, लम्बा कद, गम्भीर वाणी, सदा चिन्तन में डूबी मुद्रा, हृदय में राष्ट्र-निर्माण का सपना, दीन-हीन दुखियों के प्रति करुणा, सहयोगियों के लिए प्रेम एवं क्षमा, शिक्षा एवं संस्कृति को समर्पित सबल स्वस्थ समाज के रचयिता एवं समाज-विज्ञान के अनोखे शास्त्री व मिस्त्री। मेरे मन में उनका यही रूप अंकित है।

सभी समाज-सेवियों की तरह शास्त्री जी का जीवन भी अनेक उतार-चढ़ाव का रहा है। जीवन भर संघर्ष करते रहे। यद्यपि इनका कार्यक्षेत्र बनारस रहा किन्तु इनका जन्मस्थान मीरजापुर का जमालपुर ग्राम है। 4 जून, 1904 में जन्में राजाराम जी अपने पिता के आकस्मिक मृत्यु के बाद अपनी अध्ययनप्रिय माता के साथ बारह वर्ष की उम्र में वाराणसी आ गए। यहाँ हरिश्चन्द्र कॉलेज में इनकी शिक्षा-दीक्षा शुरू हुई। यहीं इन्हें श्री लालबहादुर शास्त्री और श्री त्रिभुवननारायण सिंह जैसे संघर्ष और रचना के निर्भीक मित्र मिले। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता आन्दोलन की धारा भी जोर पकड़ रही थी। स्वतंत्रता आन्दोलन केवल विदेशी सत्ता से मुक्ति का ही नहीं था, वरन् आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्ष को भी उद्वेलित कर रहा था और यह सब राष्ट्रीय आन्दोलन का पक्ष बन गए थे। जिस समय 1921 का असहयोग आन्दोलन

* कैलाश चंद्र मिश्र, 5/1082 विराम खंड, गोमती नगर, लखनऊ

प्रारम्भ हुआ, प्रत्येक जागरूक नागरिक के हृदय में एक चिनगारी जल उठी। उस समय राजाराम जी दसवीं कक्षा के छात्र थे, उनका बाल हृदय भी उद्वेलित हो उठा और इस चिनगारी में दो अन्य सहयोगी छात्रों ने भी घी डालने का कार्य किया और अपने सुनहले भविष्य को ताक में रखकर ये सभी बालक दावाग्नि में छलांग ले बैठे। वे अपने प्रिय शिक्षक निष्कामेश्वर मिश्र से अनुज्ञा प्राप्त करने की ओर चल पड़े। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान बनारस के ईश्वरगंगी मुहल्ले में एक मकान किराए पर लेकर आचार्य कृपलानी तथा श्री विचित्रनारायण शर्मा इन लोगों की कक्षाएँ लेने लगे। असहयोग आन्दोलन में सक्रिय विद्यार्थियों के लिए वाराणसी के लोकप्रिय नेता श्री शिवप्रसाद गुप्त ने भारतीय संस्कृति और हिन्दी के उत्थान और उन्नयन के लिए भारतरत्न डॉ. भगवानदास जी से प्रेरणा प्राप्त कर काशी विद्यापीठ की स्थापना का संकल्प लिया। फलतः असहयोगी विद्यार्थियों का प्रकाश-स्तम्भ बनकर काशी विद्यापीठ का अस्तित्व सामने आ गया। इस संस्था की स्थापना के समय महात्मा गाँधी भी उपस्थित थे। सन् 1921 में काशी विद्यापीठ में अध्ययन-अध्यापन डॉ. भगवान दास जी के नेतृत्व में प्रारम्भ हुआ। 10 फरवरी, 1921 को काशी विद्यापीठ का शिलान्यास करते हुए गाँधीजी ने अपने भाषण में कहा “हमारी लड़ाई ऐसी है कि पिता को पुत्र के, पति को पत्नी के, पत्नी को पति के वियोग का दुःख सहना पड़ेगा। बाबू भगवानदास ने मधुर शब्दों में बताया है कि यह लड़ाई धर्मयुद्ध है। मुझे इस बात में जरा भी संशय नहीं रह गया है, नहीं तो उस संस्था को कभी न छूटा जिसके प्राण मालवीय जी हैं। मेरी आत्मा यही कहती है कि यह तो वह संस्था मेरी हो जाए या नष्ट हो जाए। जब हमें निश्चय हो गया कि इन विद्यालयों में शिक्षा लेना पाप है तो उन्हें त्यागना ही उचित होगा। यही असहयोगकर्तक मवालात है। हमारे बिस्तर के नीचे पचासों वर्ष से साँप छिपा है। हमें इसका पता नहीं था। आज हमें एकाएक इसका पता लगा है। हम उस बिस्तर पर अब नहीं रह सकते। जितने विद्यालय सरकार के असर में हैं उनसे हमें विद्या नहीं लेनी चाहिए। जिस विद्यालय पर उसकी ध्वजा फहराती है, वहाँ विद्यादान लेना पापकर्म है। यदि आप इसे पाप समझते हैं तो यहाँ चले आइए। झोपड़ी में रहकर काम करना अच्छा है, महल में झंडे की सलामी बुरी है। मैं यहाँ आ गया हूँ, इसका कारण यह है कि बाबू भगवानदास और बाबू शिवप्रसाद के दिलों में सहयोग की प्रतिष्ठा हो गई है। असहयोग को बढ़ाने के लिए इस विद्यापीठ की स्थापना की गई है। असहयोग ही हमारे लिए एकमात्र शस्त्र है। हमको राष्ट्र की सेवा करनी चाहिए। राष्ट्र के लिए हम सब काम करेंगे। हमें व्यापार को जुआ नहीं बनाना है। हम हिंदुस्तान को पुण्यभूमि बनाएँगे। हम सबको प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि विदेशी वस्त्र धारण करना महापाप है। दूसरा कर्तव्य अपनी मातृभाषा को विकसित करना है। जो कुछ तालीम, अंग्रेजी में मिली है उसे मातृभाषा में हृदयंगम कीजिए। गुरु विद्यार्थी को खींच सकता है। बाबू भगवानदास ऐसे गुरु हैं। काशी अब ऐसी होनी चाहिए कि

सारे भारत की इस पर दृष्टि हो। प्रभु से मेरी प्रार्थना है कि दिन-प्रतिदिन इस विद्यापीठ की वृद्धि हो और यह विद्यालय इस राक्षसी सल्लनत को मिटाने या इसे दुरुस्त करने में हिस्सा ले।”

महात्मा गाँधी के भाषण से प्रेरित होकर श्री लालबहादुर शास्त्री, श्री अलगूराय शास्त्री, श्री त्रिभुवननारायण सिंह और श्री राजाराम शास्त्री ने 1921 से 1925 तक काशी विद्यापीठ में अध्ययन किया था और शास्त्री की उपाधि प्राप्त की थी। श्री राजाराम शास्त्री परीक्षा में प्रथम स्थान पर थे। ठीक दो वर्ष बाद ही डॉ. भगवानदास जी के सत्परामर्श पर इन्होंने काशी विद्यापीठ में पाश्चात्य दर्शन पढ़ाने के लिए अध्यापन स्वीकार कर लिया।

काशी विद्यापीठ स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों का गढ़ था। यहाँ आचार्य नरेंद्र देव, डॉ. संपूर्णानंद और श्री श्रीप्रकाश ऐसे विद्वान शिक्षक के रूप में अध्यापन कार्य में जुटे थे। ये सभी लोग गाँधी जी के नेतृत्व में देश के लिए बड़ा से बड़ा त्याग करने को तत्पर रहते थे। सन् 1930 और 32 में प्रोफेसर राजाराम शास्त्री ने भी डॉ. संपूर्णानंद के नेतृत्व में प्रांतीय संगठन में सक्रिय रूप से भाग लेना प्रारम्भ कर दिया था, फलतः इन्हें 6 मास का कारावास दंड भी भुगतना पड़ा। जनवरी 1933 में इन्हें जेल से मुक्ति मिली।

1939 में जब युद्ध विरोधी सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ तो शास्त्री जी को फिर एक बार प्रांतीय संगठन के लिए स्मरण किया गया। शास्त्री जी गिरफ्तार कर लिए गए और आगरा के बंदीगृह में इन्हें भेज दिया गया। यहाँ राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त तथा आचार्य नरेंद्रदेव जी जैसी महान् विभूतियों से इनका सान्निध्य बढ़ा और धीरे-धीरे समाजवादी विचारधारा भी इनके हृदय में पुष्ट होती रही। 1942 के ‘करो या मरो’ आन्दोलन में इन्हें भी नजरबंद किया गया और पहले तो वाराणसी और फिर बरेली सेंट्रल जेल में इन्हें रखा गया। इसी क्रम में नैनी में भी रखा गया। 1945 में जब सभी लोग छोड़े गए शास्त्रीजी ने भी जेल जीवन समाप्त किया।

भारत स्वतंत्र हुआ। शास्त्रीजी अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य भी चुने गए। अध्ययन-अध्यापन में स्वाभाविक रुचि के कारण कोई राजनीतिक पद इन्हें आकृष्ट न कर सका। आचार्य नरेंद्रदेव, डॉ. राममनोहर लोहिया और श्री जयप्रकाश नारायण ने इन्हें प्रेरित किया कि समाजवादी दल को संगठित करो। शास्त्रीजी भी डॉ. संपूर्णानन्द की तरह भारतीय समाजवाद के दार्शनिक आधार के प्रति जिज्ञासु थे। समाजवादी दल और फिर प्रजा समाजवादी दल में शास्त्रीजी ने बड़े मनोयोग से कार्य किया। उन्हीं का परिश्रम था कि अत्यंत अल्पकाल में ही उत्तर प्रदेश की राजनीति में इन दलों ने जनता के बीच अपना प्रमुख स्थान बना लिया था। यही नहीं छात्र वर्ग की एक बहुत बड़ी संख्या प्रजा समाजवादी दल के प्रति आसक्त हो गई थी। उत्तर प्रदेश ही नहीं पूरे उत्तर भारत में विश्वविद्यालयों के छात्र संघों में प्रजा समाजवादी दल के

छात्रों का आधिपत्य था। लखनऊ के छात्र संघ के अध्यक्ष श्री चन्द्रभाल त्रिपाठी, श्री दिलीप सिंह चतुर्वेदी और श्री विनयचन्द्र मिश्र लगातार चुने गए। इसी तरह इलाहाबाद में श्री पंचानन मिश्र, श्री नारायणदत्त तिवारी और श्री बृजेश सिंह, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आनन्देश्वर सिंह, भूपेन्द्र सिंह विश्नोई, सतीश कुमार और रामायण राय, विद्यापीठ में रामप्रवेश शास्त्री अलीगढ़ में मुबाशिर मोहम्मद खां और दिल्ली में श्री प्राणनाथ सब्बरवाल और श्री गजराज बहादुर नागर के हाथ में यूनियन की बागडोर थी। ये सभी छात्र नेता आचार्य नरेंद्रदेव, जयप्रकाश नारायण और लोहिया के विचारों से प्रभावित थे। शास्त्रीजी को आचार्य नरेंद्र देव का असीम स्नेह प्राप्त था। आचार्य जी समाजवाद को एक सांस्कृतिक आन्दोलन मानते थे। यही कारण था कि वे विश्वविद्यालय के प्रबुद्ध शिक्षकों जैसे प्रो. आर. के. मिश्र, डॉ. हरिकृष्ण अवस्थी, श्री भवानीशंकर शुक्ल श्री सुरेश गंगल तथा श्री वेणीमाधव शुक्ल, प्रो. राजाराम शास्त्री, प्रो. मुकुट बिहारीलाल, श्री कृष्णनाथ, श्री सागरसिंह को प्रभावित कर सके। 1956 में आचार्य जी के निधन के बाद कोई ऐसा समाजवादी नेता नहीं था जो बुद्धिजीवियों को प्रेरित कर सके। आचार्यजी के पश्चात् उस दल में जिस प्रकार विघटन आया उससे शास्त्रीजी को घोर विराग हुआ और वे अलग हो गए। वे अपना सारा समय अध्ययन-अध्यापन में लगाते और विद्यापीठ को प्राचीन गुरुकुलों की तरह ज्ञान का केन्द्र बनाते रहे। कुलपति के रूप में काशी विद्यापीठ की गौरवपूर्ण परम्परा की अन्तिम कड़ी थे। शास्त्री जी अनेक भाषाएँ जानते थे। भारतीय भाषाओं में हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, बांग्ला, फारसी पर तो इनका स्वाभाविक अधिकार था; फ्रेंच भी उन्होंने केसकर जी के सान्निध्य में सीखी। मनोविज्ञान, स्वप्न-दर्शन तथा समाज-विज्ञान पर इनकी पुस्तकें नया कीर्तिमान बना चुकी हैं। स्वप्न दर्शन पर नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी का बिड़ला पुरस्कार तथा उत्तर प्रदेश शासन का पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है।

समाज-विज्ञान को भारतीय दृष्टिकोण प्रदान करने की दिशा में शास्त्रीजी का योगदान वास्तव में अभिनन्दनीय है। आज जब समस्त संसार में समाज विज्ञान की पाश्चात्य प्रणालियों का अन्धानुकरण हो रहा है, शास्त्रीजी ने बौद्धिक दृढ़ता के साथ इसमें भारतीय परम्परा को भी संलग्न करके एक नवीन विचारधारा प्रदान की है। जिस प्रकार मनोविज्ञान में इन्होंने यथावत् पाश्चात्य का अनुकरण नहीं किया, इसके साथ इन्होंने कहीं तो डॉ. भगवानदास जी का अनुसरण किया है और कहीं स्वयं अपने विचारों से ही एक नई राह ढूँढी है।

भारतीय धर्म, संस्कृति तथा वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में भी इनके मौलिक चिंतन ने भारतीय समाजशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित किया है। उन प्रवृत्तियों के प्रति चेतावनी भी इन्होंने दी है जो हिन्दू समाज के लिए अंततः हानिकारक तथा विघटनकारी हैं। एक वैज्ञानिक की भाँति जो विश्लेषण शास्त्रीजी ने प्रस्तुत किए हैं वे सचमुच ही सभी के लिए समान महत्त्व रखते हैं।

प्रो. राजाराम शास्त्री तथा लालबहादुर शास्त्री असहयोग आन्दोलन में 1920-21 में शामिल होनेवाले काशी विद्यापीठ के पहले बैच के शास्त्री थे। दोनों नमक सत्याग्रह में गांधी के नेतृत्व में परिपक्व हुए थे और 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में दोनों ने अपने त्याग और बलिदान से काशी विद्यापीठ का गौरव बढ़ाया।

दोनों में विशिष्ट से सामान्य बनने की विलक्षण क्षमता थी। 13 दिसंबर, 1964 की रात्रि को जब हम लोग गवर्नमेंट हाउस, इलाहाबाद में राजाराम जी के साथ प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री से मिलने जा रहे थे तो प्रधानमंत्री राजाराम जी को हम लोगों के साथ पैदल टहलते हुए देखकर अपनी कार से उतरकर उन्हें उस जाड़े की रात में अपनी कार में बिठाकर राजभवन ले गए और हम लोगों से कहने लगे कि शास्त्री जी को सर्दी में इस उम्र में राजभवन के खुले मैदान में आप लोग क्यों टहला रहे हैं? दोनों शास्त्रियों का विशिष्ट से सामान्य बनना मैं आज तक नहीं भूल पाया हूँ। लखनऊ में श्री दीनदयाल जी के साथ जब भी मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में नागरिक परिवार की बैठक में भाग लेने आते तो मेरे कक्ष में कॉफी पीने जरूर आते। उनके विशिष्ट से सामान्य बनने की इस विलक्षण प्रतिभा को मैं आज भी भूल नहीं पाता। भारत सरकार ने प्रो. राजाराम शास्त्री को उनकी सेवाओं के लिए पद्मविभूषण से सम्मानित किया था। उनके निधन के बाद सांस्कृतिक संघ, वाराणसी ने एक शोक सभा का आयोजन किया था जिसमें उत्तर प्रदेश के राज्यपाल डॉ. बी. सत्यनारायण रेड्डी ने उन्हें भारतीय संस्कृति और आचार-विचार के ज्योतिपुंज के रूप में स्मरण किया। वाराणसी स्थित उनके निवास पर रेड्डी साहब के साथ जब अन्तिम प्रणाम करने हेतु पहुँचा तो देखा उनके पुत्र गिरीश एक कुरसी पर बैठे अपने आँसुओं को छिपाने की व्यर्थ कोशिश में लगे हैं। राज्यपाल रेड्डी ने जब उनके चित्र पर माल्यार्पण किया तो सहसा उनके मुँह से निकल पड़ा 'जस की तस घर दीन्हीं चदरिया'।

शास्त्रीजी के चेहरे पर एक मुदु मुस्कान तैरती रहती थी, जिसके मुरीद न जाने कितने लोग हुए होंगे। वे सभी जब उस मुस्कराते चेहरे को अब याद करेंगे तो उनकी आंखों में आँसुओं की छलछलाहट होगी। बीसवीं सदी के भारतीय समाजशास्त्र के इतिहास में प्रोफेसर राजाराम शास्त्री का उल्लेख केवल भारत में सामाजिक विज्ञान के विकास के सन्दर्भ में न होकर भारतीय धर्म, संस्कृति, साहित्य, इतिहास, दर्शन के पुराख्याता के रूप में होगा। उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम राष्ट्रभाषा हिन्दी थी, किन्तु जिन विषयों को उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति के लिए चुना, वे सामाजिक विज्ञान की सीमा में नहीं अँटते, इसलिए इनके पाण्डित्य के आकलन के लिए सीमा विस्तार अपेक्षित है। सीमा विस्तार से मेरा तात्पर्य है कि शास्त्रीय-अंकण की अपनी मर्यादा होती है, वह सभी विषयों का समाहार नहीं करती। शास्त्री जी का सृजन व्यापक एवं बहुआयामी है विषय और भाषा दोनों दृष्टियों से।

प्रोफेसर राजाराम शास्त्री गाँधी-नेहरू युग के देदीप्यमान नक्षत्र थे। पं. नेहरू के नेतृत्व में उन्होंने स्वाधीनता के लिए त्याग और बलिदान किया और स्वतंत्रता के बाद देश के नव-निर्माण की ओर अग्रसर रहे। नेहरू जी के निधन के बाद शास्त्रीजी की अध्यक्षता में सांस्कृतिक संघ वाराणसी ने नेहरू व्याख्यानमाला का आयोजन किया जिसके अन्तर्गत श्री जगजीवनराम, डॉ. सम्पूर्णानंद, श्रीप्रकाश, श्री अच्युत पटवर्धन, डॉ. सी.पी. रामास्वामी अय्यर, डॉ. सत्येन्द्रनाथ बोस, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. राजबली पाण्डेय, पं. क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, डॉ. विद्यानिवास मिश्र, डॉ. गोपाल त्रिपाठी, श्री वंशीधर पाण्डेय एवं डॉ. हरिहरनाथ त्रिपाठी ने विभिन्न विषयों पर महत्त्वपूर्ण वार्ताएँ दीं जिनको यथावत् लिपिबद्ध कर पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया।

प्रोफेसर राजाराम शास्त्री का पार्थिक शरीर चला गया, किन्तु चिन्मय शरीर साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति के रूप में अमर हैं। उसमें वे सजीव होकर बोल रहे हैं, यह ज्ञानमय शरीर हमारे पास सदा-सदा के लिए रहेगा और इसमें शास्त्रीजी सदा अमर रहेंगे।

आँसू जल से श्रद्धांजलि जो,
भाव सुमन अर्चन लो।
सरस्वती के अमर पुत्र हे!
शत-शत बार नमन लो।

छायावाद : नारी-इयत्ता का नया आख्यान

सुरेंद्र नारायण यादव*

भक्ति काल में नारी को नरक का द्वार माना गया।

कबीर कहते हैं

नारी की झाई परै अंधा होत भुजंग

कबिरा तिनका हाल क्या जे नित नारी के संग।

तुलसीदास ने नारी को “ताड़न का अधिकारी” बताते हुए उसके आठ अवगुण गिना डाले।

भक्ति काल के बाद रीतिकाल भी नारी की गरिमा को बढ़ानेवाला साबित नहीं हुआ। उसने उसे विलास के उपकरण से अधिक कुछ नहीं माना। किन्तु छायावाद ने नारी को एक सर्वथा नवीन दृष्टि से देखा। वह पूर्व की दृष्टियों से भिन्न होने के साथ-साथ नारी जाति को एक नवीन गरिमा और उसके अस्तित्व को एक नई अर्थवत्ता प्रदान करनेवाली थी।

बंगाल में रामकृष्ण परमहंस के उदय ने नारी को शक्तिस्वरूपा, पूज्या और वरदायिनी मुद्रा प्रदान कर दी थी। निराला का बचपन बंगाल में बीता था। फलतः बांग्ला प्रभाव से उनमें एक नई नारी चेतना जन्म लेती है। निराला से पूर्व हिन्दी साहित्य का केन्द्र बने बनारस में जयशंकर प्रसाद छायावाद का प्रवर्तन कर रहे थे। फ्रांसीसी क्रान्ति का स्वतंत्रता और समता का उद्घोष छायावादियों को अत्यंत आकर्षक लगा। उनके भीतर भी हर प्रकार की स्वतंत्रता की कामना जागने लगी। किन्तु जैसा कि हर बार होता है विचार और आकांक्षा पहले जन्म लेती है, समाज बाद में बदलता है। स्वतंत्रता की आकांक्षा और समाज का परम्परागत प्रतिबंधन दोनों के बीच टकराव उत्पन्न हो गया। छायावादी अपनी भावना की मुक्ति और आकांक्षा की पूर्ति की कामना तो रखते थे किन्तु समाज में उन्हें वह स्वतंत्रता उपलब्ध नहीं हो

* डॉ. सुरेंद्र नारायण यादव, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, डी.एस. कॉलेज, कटिहार, मो. 9430031563

पा रही थी। गौर करने लायक यह भी है कि समाज की परम्परागत मान्यताओं और आचार के निषेधों को खंडित कर डालने का माद्दा उनमें उभर भी नहीं पा रहा था। कामना और निषेध की टकराहट से जो बोध पैदा हुआ उसकी पहली मार्मिक अभिव्यक्ति प्रसाद के 'आँसू' नामक काव्य में दृष्टिगोचर होती है :

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति सी छाई
दृर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आई।

तत्कालीन सामाजिक यथार्थ से लड़ने में अक्षम छायावादी कवि प्रसाद के रूप में पलायन का रास्ता अख्तियार कर लेता है :

ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे
जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

प्रसाद की तरह ही कोमलप्राण कवि पंत भी कर्म-कोलाहल जगत् से पलायन कर प्रकृति की मनोरम दुनिया में शरण खोजते हैं। नारी के साथ रहने से अनेक जागतिक यथार्थ से रू-बरू होना पड़ता है। इस दुनिया से अलग एक और दुनिया है पंत कीकल्पना की दुनियाजिसे वे भूलना नहीं चाहते। इसलिए नारी से बँधने को वे तैयार नहीं दीखते। यह भी एक प्रकार का पलायन ही है :

छोड़ दुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले, तेरे बाल-जाल में
कैसे उलझा दूँ लोचन
भूल अभी से इस जग को?

मन, भावना और विचार के स्तर पर ही सही, छायावादी एक नई समाज व्यवस्था का निर्माण कर डालना चाहने लगे। यह काम बिना पूर्व की स्थापित सामाजिक व्यवस्था का विध्वंस किए संभव नहीं था। प्राचीन रुढ़ियों का विध्वंस और नई समाज-व्यवस्था का निर्माणइन दोनों ही बातों को हम छायावाद में पाते हैं। तभी पंत कहते हैं *द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र*। जीर्ण पत्रों के झरने पर स्वाभाविक था कि

छायावादी नएपन का आह्वान करते। यह आह्वान हमें निराला की सरस्वती वन्दना नामक गीत में बड़े भास्वर रूप में उपलब्ध होता है, जब कवि कहता है :

वर दे, वीणावादिनि वर दे
नव गति, नव लय, ताल छन्द नव
नवल कण्ठ नव जलद मन्द्र रव
नव नभ के नव विहगवृंद को
नव पर, नव स्वर दे।

निराला सब कुछ नया चाहते हैं। पुराना कुछ भी उन्हें स्वीकार्य नहीं। इस नई रोशनी में छायावादियों ने नारी को देखा तो वह एक अपूर्वअश्रुतपूर्व गरिमा और अर्थवत्ता से युक्त दिखी। यही नयापन चारों प्रमुख छायावादियों में अलग-अलग रूपों में दृष्टिगोचर होता है। कामायानी में प्रसाद की नारी भावना की प्रवक्ता बनी श्रद्धा कहती है :

तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन।

यह विचार मध्यकालीन नरक का द्वार और भौम के उपकरण से सर्वथा भिन्न और अछूता है।

नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत-नग पगतल में
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।

नारी के प्रति यह दृष्टि सामाजिक स्वास्थ्य और मानवीय गरिमा के सर्वथा अनुरूप है। पंत ने इस दृष्टिकोण को संपूर्ण संभाव्य विस्तार प्रदान किया। नारी की इस नवीन विस्तारित भूमिका को वे इन शब्दों में बहुमान देते हैं :

देवी, माँ! सहचरी! प्राण!

वह नरक के द्वार के बदले पंत के लिए :

तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि
मुझे है स्वर्गाधार

कवि देवी के रूप में नारी की उपासना करता है, माँ के रूप में आदर करता है, सचहरी के रूप में प्रेम ही नहीं करता उसे प्राणरूप भी मानता है। वे नारी को वरदायिनी देवी के रूप में पाकर उनसे प्रार्थना करते हैं :

नव नव सुमनों से चुन चुनकर
भर दे कर दे विकसित मन

निराला ने भी नारी को वरदायिनी देवी के रूप में देखा था जो शक्तिस्वरूपा भी थी। वरदायिनी शक्तिस्वरूपा देवी की गम्भीर भूमिका 'राम की शक्ति पूजा' में दुर्गारूप में है, जिसकी कृपा के बिना रावण के जय-भय से आक्रांत राम का जीतना और सीता का उद्धार असंभव हो चला था :

होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन
कह महाशक्ति राम के वदन में हुई लीन।

माँ तो देवी को भी कहा ही जाता है। किन्तु जन्मदात्री माँ के रूप में उसकी भूमिका का विस्तृत वर्णन हमें प्रसाद की 'कामायनी' में श्रद्धा के रूप में उपलब्ध होता है जिसमें वह अपने होनेवाले बच्चे के जन्म के पूर्व से लेकर कुमार होने तक हर कष्ट सहती और अधिकतम वात्सल्य के साथ उसका लालन-पालन करती है। मनु बच्चे के प्रति उसकी निष्ठा को अपनी उपेक्षा मानकर उसे छोड़कर चला जाता है और श्रद्धा की स्थिति बड़ी शोचनीय और उसके पालन का गुरुतर भार अकेली वहन करने को विवश होती है। बड़ा ही विगलित कर देनेवाला प्रसंग है। सहचरीयानी साथ चलने वाली मित्र के रूप में 'ग्रंथि' नामक काव्य में पंत खुद उसकी नई भूमिका को चित्रित करते हैं :

वह बालिका मेरी मनोरम मित्र थी।

'प्राण' पत्नी के लिए प्रयुक्त होता है। प्रकृति में खोये रहनेवाले पंत नारी को प्राणरूप से स्वीकार तो न कर पाए। छायावाद के शेष दोनों पुरुष प्रतिनिधि शादीशुदा थे। प्रणस्वरूपा पत्नी की मृत्यु का दर्द निराला को आजीवन स्वस्थ और स्थिर नहीं होने देता। साहित्य की दृष्टि से सर्वथा अछूती बहन के रूप में भी निराला ने 'तुम और मैं' शीर्षक में उसकी एक भूमिका चित्रित की थी।

नारी-स्वतंत्रता का सबसे मौलिक और निर्णायक प्रदर्शन प्रेम और विवाह में उसकी अपनी इच्छा के चुनाव में प्राप्त होता है। अगर वह इस मामले में स्वतंत्र नहीं है तो वास्तव में वह स्वतंत्र नहीं है। नारी के प्रति छायावादी कवि के दृष्टिकोण का यह सबसे महत्वपूर्ण पहलू है। और इस दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण कवि निराला सिद्ध होते हैं। आज तक नारी नर से कहती रही है :

ऐ मेरी हमराही
तू बाँह थामे चलना।

यह पहली बार है कि निराला नर होकर भी यही आश्रय और यही सहारा नारी में खोजते हैं :

कितने ही बार पी मूर्च्छित हुए हो, प्रिय,
जागती मैं रही
गह बाँह, बाँह में भरकर सँभाला तुम्हें।

जाति और धर्म के बंधन से मुक्त यह प्रेम एक नई चीज है, एक नई माँग है, नई भूमिका है जो परम्परा के सर्वथा उलट है। परम्परा का यह भंजन इस बात से भी रेखांकित करने योग्य है कि जहाँ छायावाद से पूर्व सभी कवि इष्ट वन्दना से अपने काव्य का आरम्भ करते थे वहाँ निराला अपने सर्वप्रमुख काव्य संग्रह 'अनामिका' की शुरुआत उक्त 'प्रेयसी' कविता से करते हैं। ऐसा नहीं था कि वे नास्तिक थे। नास्तिक होते तो 'राम की शक्ति पूजा,' 'नाचे उस पर श्यामा', 'सरस्वती वन्दना' तथा अन्य अनेक प्रार्थनापरक कविताएँ कैसे लिखते? अपनी प्रगाढ़ आस्तिकता के बावजूद 'प्रेयसी' कविता से अपने संग्रह का आरंभ यह सिद्ध करने के लिए काफी है कि छायावादियों के लिए नारी वहीं नहीं है जो उनके पूर्व तक समझी गई थी।

छायावादी महादेवी वर्मा में नारी-अस्मिता का एक अलग ही स्वर सुनाई पड़ता है। चूँकि वे खुद नारी थीं, अस्तु खुद से अपने को देवी, माँ, सहचरी प्राण तो नहीं कह सकती थीं। लेकिन अपनी इयत्ता की स्वतंत्रता को भरपूर रूप से भोग लेना चाहती हैं। वे इस मुगालते से सर्वथा मुक्त दिखती हैं कि नारी पुरुष की छत्रछाया और सहारे के बिना जी ही नहीं सकती। उनका अपना जीवन इसकी पूरी तसदीक तो करता ही है, साथ ही उन्हें अपनी निजता भी इतनी प्रिय और काम्य है कि बड़ी से बड़ी उपलब्धि के लिए भी वे उसे विसर्जित करने को तैयार नहीं :

सखि! मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं?

यह उनकी चारित्रिक दृढ़ता का भी सूचक है। आज नारी स्वतंत्रता का जो जोर भारत भर में दिखाई पड़ता है, आधुनिक भारत में उसका बीज महादेवी में मिलता है। 'नारी-स्वतंत्रता' की पहली प्रवक्ता भी वही हैं। प्रसाद के नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' में भी नारी पुरुष के निर्णय से इतर अपना निर्णय दृढ़ता से प्रस्तुत करती है।

अस्तु, छायावाद ने नारी को जो गरिमा प्रदान की है वह श्लाघ्य और काम्य है।

मूल्य शिक्षा : गुणवत्ता सुधार के आयाम

अर्जुन के. तड़वी*

वर्तमान समय के समाज में चारों ओर मूल्यों में गिरावट देखी जा रही है। इसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में भी यह गिरावट देखने को मिल रही है। समाज में आम आदमी की यह धारणा बन गई है कि मेहनकश व ईमानदार आदमी दुःख पा रहे हैं, कष्ट पा रहे हैं। वहीं झूठ फरेब के कार्य करने वाले फल फूल रहे हैं। ईमानदार व्यक्तियों को बेवकूफ माना जा रहा है। इस धारणा ने शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासनहीनता, श्रम के प्रति उदासीनता, अनुत्तरदायित्व आदि को जन्म देने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

आज चाहे औद्योगिक क्षेत्र हो या राजनीतिक क्षेत्र, इन क्षेत्रों में अवसर का लाभ लेते हुए अपना स्वार्थ सिद्ध तुरंत किया जाता है। पिछले दिनों राजस्थान गुर्जर आरक्षण को लेकर सभी राजनीतिक दल अपनी-अपनी रोटियाँ सेकने में लग गए। कोई भी आम जनता, राष्ट्रीय संपत्ति राष्ट्र की कोई परवाह नहीं कर रहे थे। इसी प्रकार से देश की सरकार के विश्वास मत प्रकरण पर देखने को मिला।

आज देश के समस्त क्षेत्रों में मूल्य-शिक्षा की आवश्यकता महसूस की जा रही है। भारत के कर्णधारों ने नई शिक्षा नीति में इस ओर अपेक्षित ध्यान दिया इसलिए कहा गया है “सभी प्रकार के विचारशील लोग मूल्यों के तेजी से हो रहे हास तथा उसके परिणामस्वरूप सार्वजनिक जीवन में व्याप्त प्रदूषण से बहुत विक्षुब्ध हैं। वास्तव में मूल्यों की यह संकटग्रस्त स्थिति जिस प्रकार जीवन के अन्य अंगों में व्याप्त है, उसी प्रकार स्कूलों, कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों के छात्रों तथा शिक्षकों में व्याप्त है। इसे बहुत खतरनाक माना जाता है। अतः यह आग्रह किया जाता है कि शिक्षा की प्रक्रिया का पुनः अभिविन्यास किया जाए तथा युवकों को इस बात की पुनः अनुभूति कराई जाए कि इस तरह न तो शोषण, अनुरक्षा तथा हिंसा को रोका जा सकता है और न ही किसी संगठित समाज को सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक मापदण्डों को

* डॉ. अर्जुन के. तड़वी, एसोशियेट प्रोफेसर, आर्ट्स कॉलेज, पाटन, 384265 (उ. गुजरात),
मो. : 9913244387

स्वीकार किए और पालन किए बिना बनाए रखा जा सकता है। पिछले अनुभवों से यह सीखते हुए, यह आशा की जाती है कि सुसंगत तथा व्यवहार मूल्य प्रणाली को ऐसी प्रक्रियाओं के माध्यम से लागू किया जाए जो जीवन के प्रति तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित हैं।

मूल्य शिक्षा का अर्थ

मूल्य शिक्षा वह शिक्षा है जो बालक/व्यक्ति को मूल्यों के बारे में शिक्षित करती है। मूल्य शिक्षा के सम्बन्ध में डॉ. एस. पी. रुहेला के विद्यालय स्तर पर शिक्षण के बारे में विचार निम्नानुसार है :

1. 'मानव मूल्यों में शिक्षा' यह किसी पृथक् विषय के रूप में विद्यालय में नहीं पढ़ाई जा सकती है।
2. मूल्य शिक्षा को हमें नैतिक शिक्षा में ही समाहित नहीं करना चाहिए।
3. मूल्य शिक्षा देने के पश्चात् उसका अन्य विषयों की भाँति मूल्यांकन कर पाना संभव नहीं।
4. इसे मूल्यविहीन, समर्पणहीन शिक्षकों द्वारा अवहेलनात्मक दृष्टिकोण से नहीं पढ़ाया जाना चाहिए।
5. यह केवल औपचारिक शिक्षण संस्थाओं में नहीं पढ़ाई जाए वरन् अनौपचारिक रूप में भी इसकी शिक्षा देनी चाहिए।
6. इसे धार्मिक मंत्रों, प्रार्थना, सभाओं की गाथाओं आदि के रूप में ही नहीं देना चाहिए।
7. इस शिक्षण को मानव निर्माण के एक सशक्त एवं व्यावहारिक विज्ञान का रूप ग्रहण कराना है, जिसमें आध्यात्मिकता, विज्ञान प्रौद्योगिकी, नीतिशास्त्र, सामाजिक कार्य, आधुनिकता, अन्तर्राष्ट्रीय मानववाद आदि को सम्मिलित किया जाना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक अभिभावक व नागरिक अपने सम्पर्क में आने वाले हर बच्चे, विद्यार्थी व नागरिक को मूल्यों के प्रति सचेत करें व स्वयं भी इसके प्रति सचेत हों।

शासन सत्ता का अस्पष्ट अभिप्राय

भारतीय परिस्थितियों में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् की सेवापूर्ण अध्यापक-शिक्षा के अवलोकन से कुछ विशिष्टताएँ उभरकर सामने आती हैं। इनमें दोनों ही पक्षों यथाअच्छे तथा बुरे का मनन करना आवश्यक है। इस क्रम में यह सुनिश्चित है कि भारतीय शिक्षाविदों एवं नीति-निर्धारकों ने अधिक समर्पित ढंग से कार्यकर दीर्घगामी मास्टर प्लान तैयार नहीं किया है। फलस्वरूप अध्यापक-शिक्षा नित-नए उपयोगी-अनुपयोगी प्रयोगों की कार्यशाला बन गई है। शासन-सत्ता के मंतव्य तथा शिक्षा के

स्वरूप के मध्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। ब्रिटेन तथा अमेरिका की शिक्षा का धार्मिक स्वरूप इसका स्पष्ट उदाहरण है। शिक्षक-शिक्षा के स्वरूप तथा विषय वस्तु के निर्धारण के लिए यह आवश्यक है कि देश की शासन सत्ता अपना मंतव्य स्पष्ट करें ताकि तदनुसृत प्राकृतिक साधनों का विदोहन तथा सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्यों का संरक्षण करने के लिए उचित व्यक्तित्वों का निर्माण करने वाले अध्यापक तैयार किए जा सकें।

वर्तमान तकनीकी उफान वाले युग में तकनीकी के पीछे चलने वाली शिक्षक-शिक्षा सफल नहीं होगी, बल्कि प्रयोगशालाओं में उपजने वाली तकनीकी के आगे चलने वाली अध्यापक-शिक्षा तैयार करें ताकि नई तकनीक के आने से पहले वातावरण सृजित हो सके। कम्प्यूटर के जन्म के बाद लगभग एक सदी व्यतीत हो जाने पर भी इसे नवीन तकनीक कह कर अनिवार्य करना, प्रथमतः न्यायसंगत नहीं है तथा इस पर अध्यापक-शिक्षा के केन्द्रों का मन्तव्य कम्प्यूटर की शिक्षा देने से अधिक धन कमाना हो जाना और भी गम्भीर है।

दोषपूर्ण प्रवेश प्रक्रिया

अध्यापक शिक्षा की गुणवत्ता को उत्तरोत्तर अच्छा बनाने के लिए प्रवेश-प्रक्रिया से ही शुरुआत करनी होगी। इस सम्बन्ध में किए गए प्रयासों से लगता नहीं है कि अधिक गम्भीर व राष्ट्रीय सोच से कार्य किया गया है। प्रायः हम देखते हैं कि गत 10-15 वर्षों से अध्यापक शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश के लिए प्रवेश परीक्षा की प्रक्रिया से गुजरना होता है। इस हेतु स्वतंत्र भारत की महापंचायत अर्थात् संसद द्वारा पारित विधेयक से गठित राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद (एन.सी.टी.ई) के प्रभावी होने के बाद शिक्षक-शिक्षा के क्षेत्र में प्रत्येक स्तर पर सम्पूर्ण राष्ट्र में प्रवेश परीक्षा की प्रक्रिया को अनिवार्य कर दिया गया है।

यद्यपि प्रवेश सम्बन्धी इस बदलाव ने किन्हीं कारणों से अकादमिक उपलब्धि में पिछड़े रह गए अभ्यर्थी को भी अपनी क्षमता प्रदर्शित करने का अवसर प्रदान किया है, परन्तु अध्यापक-शिक्षा के मूलभूत ढाँचे में कोई बड़ा बदलाव लाने में यह सफल नहीं हो सकी है। आज लगभग प्रत्येक प्रकार के व्यवसाय में प्रविष्ट होने से पहले उचित प्रशिक्षण आवश्यक माना गया है। राष्ट्रीय महत्त्व के प्रत्येक व्यवसाय यथासेना, पुलिस, बैंक, बीमा, यहाँ तक कि पटवारी और ग्रामसेवक को भी सेवा सुनिश्चित करके ही प्रशिक्षण दिया जाता है, जबकि अध्यापक शिक्षा के क्षेत्र में सेवा की शत-प्रतिशत अनिश्चितता से प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव प्रशिक्षणार्थी की मनोवृत्ति पर पड़ता है। वह आधे मन से प्रशिक्षण ग्रहण करता है जो कि अधपकी रोटी की भाँति खाने में ठीकठाक लगने पर भी अन्ततः नुकसान ही करती है। यदि सरकार तथा एनसीटीई अध्यापक-शिक्षा की गुणवत्ता को सुधारने के

लिए कटिबद्ध है तो इस दोषपूर्ण प्रवेश प्रक्रिया में अपक्षित सुधार अवश्य ही करें। अध्यापन के व्यवसाय से जुड़ने वाले शिक्षार्थियों को प्रशिक्षण में प्रवेश से पूर्व सेवाएँ सुनिश्चित करवाई जानी चाहिए।

प्रायः प्रत्येक प्रांत एवं केन्द्र सरकार के नियंत्रण में चलने वाले शिक्षा केन्द्रों में, अध्यापकों के लिए चलने वाले शिक्षा केन्द्रों में, अध्यापकों की आवश्यकता के आँकड़े संबंधित विभाग के पास अवश्य ही रहते हैं। अतः सरकारी विद्यालयों की आवश्यकता को मद्देनजर रखते हुए प्रशिक्षण पूर्व सेवाधीन कर इस प्रकार के प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। इस प्रकार के प्रशिक्षणार्थियों से किसी प्रकार की फीस आदि वसूल नहीं की जानी चाहिए, बल्कि प्रशिक्षण के दौरान अत्यावश्यक व्यय वहन के लिए वजीफा दिये जाने की आवश्यकता है।

स्ववित्तपोषण एवं शिक्षक शिक्षा

साथ ही प्रबन्ध संस्थानों व अन्य व्यावसायिक प्रशिक्षणों की भाँति कुछ स्थान शिक्षा के क्षेत्र में कार्य कर रहे स्वयंसेवी संस्थाओं के लिए सुनिश्चित किए जाएँ जिनसे शुल्क लिया जा सकता है। इन शिक्षक-शिक्षालयों को स्ववित्तपोषी बनाने के लिए आधी जगहें खुली रखी जा सकती हैं, जिन पर संस्थाओं की फीस वसूली की सीमाएँ सुनिश्चित की जाएँ ताकि शोषण से रोका जा सके। अध्यापक-शिक्षा को पूर्णरूपेण स्ववित्तपोषी नहीं किया जा सकता है। यदि किया गया तो यह गुणवत्ता सुधार के बजाय सामान्य जन के साथ क्रूर मजाक होगा।

अध्यापक-शिक्षा में प्रवेश प्रक्रिया को अधिक धरातलीय बनाने के लिए प्रयास करना चाहिए। इस सम्बन्ध में सरकार को अपने मूल दायित्व को ध्यान में रखते हुए जनता से प्राप्त टैक्स का कुछ हिस्सा इन शिक्षक-शिक्षालयों पर अवश्य ही व्यय करना चाहिए। आज शिक्षण संस्थाओं के लिए स्ववित्त पोषण के विषय पर चल रही विश्वव्यापी बहस के युग में सरकार को अपना यह दायित्व नहीं भूलना चाहिए। भारतीय परिस्थितियों के अंतर्गत संपूर्ण स्ववित्तपोषी संस्थान बना देने की बात करना आम जनता के साथ धोखा है। इस सम्बन्ध में गत 23 वर्ष से अध्यापक-शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करते हुए मेरा व्यक्तिगत अनुभव है कि अनेक प्रशिक्षणार्थी अपनी जमीन जायदाद, गहने बेचकर अथवा महंगी ब्याज दरों पर देसी साहूकारों से ऋण लेकर यह प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए संस्थानों की ऊँची फीस, अनेक स्थानों पर कैंपिटेशन फीस अथवा दान-राशि के नाम पर एक बड़ी धनराशि का भुगतान करते हैं। जले पर नमक डालते हुए उन्हें वर्ष भर अपनी गुणवत्ता सुधार हेतु विषय वस्तु, पुस्तकों, शिक्षण विधाओं आदि अकादमिक कार्यों में समय लगाने की बजाय छात्रावास व्यवस्था, अनावश्यक फीस वसूली, पेनल्टी-फाइन, पानी, पंखे, मैस व्यवस्था आदि के लिए संस्थान विद्यार्थियों को मजबूर करते रहते हैं।

प्रबंधन व्यवस्था में अपरिपक्वता

अध्यापक-शिक्षा के क्षेत्र में यह भ्रांति अत्यंत विशिष्ट है कि अधिकांश शिक्षक-शिक्षालयों का प्रबंध इस व्यवसाय से कोसों दूर तक सम्बन्ध न रखने वाले लोगों के हाथों में है। इस प्रकार का प्रबंधन इस व्यवसाय की संवेदनशीलता एवं आवश्यकताओं को महसूस करने के बजाय इसे धन कमाने वाली फैक्ट्री अधिक मानता है। अनेक समय शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ रहे संगठनों के प्रमुखों से बातचीत में एक ही बात उभर कर सामने आती है कि बी.एड. कॉलेज शुरू करना चाहिए, अच्छी कमाई है।

इस मंतव्य की पूर्ति में सरकार एवं एनसीटीई भी इन्हें पूरा सहयोग कर रही है। प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों के लिए ऊँची फीस की सीमा तो निश्चित व अनिवार्य कर दी है, किन्तु संस्थान में अध्यापक-शिक्षा का कार्य करने वाले लोगों को भुगतान के लिए प्रबंधन को कतई पाबंद नहीं किया गया है। इसका ही परिणाम है कि 4500 रुपए में यह प्रशिक्षण प्रदान करने वाले विशेषज्ञ प्राप्त होते हैं, जो अनेक सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक कारणों से आधे मन से खानापूर्ति करने के लिए शिक्षक-महाविद्यालयों की शोभा बढ़ा कर एनसीटीई के मानकों को पूरा कर देते हैं। अध्यापक-शिक्षा के क्षेत्र में होने वाले नवाचारों, नवीन अनुसंधानों से इस प्रकार के लोगों का संपर्क रखने का कोई सरोकार नहीं होता, जो कि गुणवत्ता को प्रत्यक्षतः प्रभावित कर रहा है।

शिक्षा उद्देश्य की पूर्ति में नाकाम

अध्यापक-शिक्षा के मूल रूप से तीन कार्य हैं शिक्षा, शोध एवं प्रसार कार्य। वर्तमान राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में अध्यापक शिक्षा इन तीनों ही कार्यों में सफल नहीं हो सकी है। शिक्षा की गुणात्मकता, शोध के माध्यम से नवीन विधाओं की खोज तथा आम जन के जीवन स्तर में सुधार के लिए नवीन जानकारी के प्रसार के लिए काम करना सफल कहा जा सकता है। यह अत्यंत अफसोस के साथ कहा जा रहा है कि आज भी भारतवर्ष में बहुत बड़ी संख्या में निरक्षर लोग निवास कर रहे हैं जबकि अनेक हमसे अल्प साधनों वाले राष्ट्र इस सम्बन्ध में भारत से कई गुना आगे हैं। इसका आशय स्पष्ट है कि हम अपने दायित्व व देश के प्रति समर्पण में उनसे पीछे हैं।

सृजनशील परिवेश का अभाव

यह सर्व विदित है कि जैसे वृक्ष लगाए जाएँगे, निश्चित रूप से उसी तरह के ही फल हमें प्राप्त होंगे। फिर कैसे हमारा समाज अध्यापक-शिक्षा के वर्तमान स्वरूप से अधिक उम्मीद लगाए बैठा है? आज की अध्यापक-शिक्षा में प्रथम कदम रखते ही शिक्षार्थी नैतिकता के स्थान पर अनैतिकता, न्याय की जगह शोषण, स्वतंत्रता की

जगह दमन, मानवता के स्थान पर क्रूरता का पाठ पढ़ता है। प्रायः अध्यापक-शिक्षा के केन्द्रों की स्थिति का सूक्ष्मतम अध्ययन करने पर अनेक तरह की गम्भीर नासूर बनी आधारभूत समस्याएँ मिलती हैं, जिनका निराकरण करवाने के लिए भी शिक्षार्थियों को अपनी पूरी मानसिक शक्ति व समय लगाना होता है। इन्हें शिक्षा के मुख्य कार्यों में समय लगाने के बजाय मैस व्यवस्था, छात्रावास व्यवस्था, पुस्तकालय का बन्द होना, गुरुजनों की कृपादृष्टि, वार्षिक प्रायोगिक परीक्षाओं में अंक प्राप्ति के लिए जोड़-तोड़ करने में ही समय लगाना होता है।

अध्यापन कार्य में अव्यावहारिकता

आज प्रायः प्रत्येक बी.एड. प्रशिक्षणार्थी अध्यापक-शिक्षा में दी जाने वाली विषय-वस्तु एवं कार्यक्रम की अव्यावहारिकता की चर्चा करता रहता है। पाठ योजना, सत्रीय कार्य, कक्षा शिक्षण, सूक्ष्म शिक्षण आदि पूरी तरह नाकाम सिद्ध हो चुके हैं। इन्हें अध्यापक-शिक्षा के क्षेत्र में महज एक औपचारिकता बना रखा गया है। तकनीकी उफान के इस युग में आज भी हमें सैकड़ों वर्ष पुराने पाठ्यक्रम से जुझना पड़ता है।

परम्परागत प्रशिक्षण की यह प्रवृत्ति ही स्वयं में अधूरी एवं गलत है। विषय शिक्षण के नाम पर जिन विषय विशेष की विधाओं का अध्यापन करवाया जाता है, निःसंदेह वे समय पार हैं। वर्तमान युग की आवश्यकताओं से इन विषयों का कतई मेल नहीं है। भाषा, तर्क शक्ति, तकनीकी विज्ञान, विश्व-समाज की कल्पना, मानवाधिकार आदि विषयों पर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है, जबकि विश्वव्यापी परिदृश्य में कार्य करने वाले सभी संगठन इन्हीं नवीन विधाओं पर चर्चा कर रहे हैं तथा हम नवांगतुक पीढ़ी को पुराने बिन्दुओं में ही समेटे हुए हैं।

निष्कर्ष रूप से यह सुनिश्चित है कि जब तक अध्यापक-शिक्षा की मूल समस्याओं पर सरकार, शिक्षक समुदाय तथा शिक्षार्थी तीनों मिलकर सामूहिक मंतव्य का निर्माण नहीं करेंगे, तब तक इस सम्बन्ध में बातचीत करना मात्र बातचीत ही रहेगी, इनसे कोई सकारात्मक परिणाम मिलना बहुत कठिन होगा। चूँकि, शासन सत्ता इस सम्बन्ध में पहल करने का प्रथम दायित्व व सक्षमता रखती है, अतः जनता के धन का एक हिस्सा अवश्य ही शिक्षक शिक्षालयों पर व्यय करना चाहिए। साथ ही योग्य लोगों को जिम्मेदारी सौंप कर इन केन्द्रों पर उचित वातावरण सृजित करने पर भी बल देना चाहिए।

सन्दर्भ

1. समकालीन भारतीय साहित्य, संपा. : ब्रजेन्द्र त्रिपाठी
2. नई शिक्षा : डॉ. रामेश्वर वर्मा
3. मूल्यनिष्ठ शिक्षा : डॉ. अनिता मिश्र
4. मूल्य शिक्षाडॉ. एस.पी. रुहेला

पाठकीय प्रतिक्रिया

‘चिन्तन-सृजन’ का अप्रैल-जून 2011 अंक मिला। आपने अपने सम्पादकीय लेख में जो चिन्ता व्यक्त की है, उसमें हर वह आदमी सहभागी है, जो इस देश के हित में कुछ सोचता है। देश में चौतरफा व्याप्त गिरावट को प्रत्येक समझदार आदमी शिद्दत से महसूस कर रहा है। संचार माध्यमों की तरफ जो आपने इशारा किया है, उससे भी हर बुद्धिजीवी आहत है। संचार माध्यमों की प्राथमिकतायें कितनी बदल गयी हैं। धीरे-धीरे यह बदलाव अधोगति की ओर ले जा रहा है। संचार माध्यमों का देश की बेहतरी से अब कोई सरोकार नहीं रह गया है; उनका सरोकार बाजार केन्द्रित हो गया है। अधिक से अधिक धन उगाही उनकी एक मात्र चिन्ता रह गयी है। ऐसे में चटपटी खबरें, वे चाहे फिल्मी तारिकाओं की हों या अपराध जगत की या राजनीतिक उठा-पटक की, उनको प्रमुखता दी जाती है। उन पर बहसें कराई जाती हैं।

लेकिन इस माहौल में भी अभी यह उम्मीद है, जिसकी ओर आपने इशारा किया है, वह यह है कि “समाज में अच्छे लोग, अच्छे काम, अच्छी घटनाओं की भी कमी नहीं होती।” इसलिये यह सोचना वाजिब है कि “समाचार माध्यमों को उनकी जानकारी देकर समाज के मनोबल बढ़ाने तथा सामाजिक मनोवृत्ति में सार्थक बदलाव लाने का काम करना चाहिए।”

दूसरा विन्दु जिसकी ओर ‘सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य’ में संकेत किया गया है वह अन्ना हजारे द्वारा प्रस्तुत नागरिक समाज का बनाया लोकपाल विधेयक का है। आपने ठीक कहा है कि “व्यवस्था में सार्थक बदलाव के लिये अच्छे कानून एवं अच्छी नीति बनायी जानी चाहिये।”

तीसरी बात जो उठायी गयी है, वह शिक्षा पद्धति के अवमूल्यन की है। ‘वर्तमान शिक्षा पद्धति के रहते’ ‘हमारी सोच एवं मूल्यों में बदलाव’ सम्भव दिखाई नहीं देता। ‘वर्तमान शिक्षा प्रणाली बच्चों की सोच में स्वस्थ बदलाव नहीं लाती।’ स्वस्थ बदलाव के लिये पूरी शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तन करना होगा, तभी बच्चे अपनी संस्कृति, परम्परा, भाषा, धर्म और आचार-व्यवहार को ठीक से समझ और अपना पायेंगे। अभी तो उन्हें यही पढ़ाया जाता है कि हमारे पूर्व पुरुष कहीं बाहर से आये थे।

हमेशा की तरह ही चिन्तन-सृजन के इस अंक में भी विचारोत्तेजक लेख संग्रहीत हैं। वैसे तो अपने-अपने क्षेत्र से सम्बन्धित सभी लेख महत्वपूर्ण हैं, पर कुछ लेख ऐसे

हैं जो विशेष रूप से ध्यान खींचते हैं। परमानन्द पांचाल को आर्य-द्रविड़ भाषाओं से सम्बन्धित लेख में तार्किक ढंग से यह बात कही गई है कि आर्य जाति और द्रविड़ का ‘आनुवांशिक’ आधार पर विभाजन एक भ्रामक और कुटिल प्रचार का नतीजा था। सी.सी.एम.बी. तथा हार्वर्ड एम.आई.टी. के शोध के परिणाम से यह सिद्ध हुआ है कि ‘सभी भारतीय आनुवांशिक रूप से जुड़े हुये हैं।’ लेखक ने सी.सी.एम.बी. के वरिष्ठ वैज्ञानिक के तंगराज को उद्धृत किया है, जिन्होंने कहा है कि “आर्य द्रविड़ सिद्धान्त में जरा भी सच्चाई नहीं है।” सभी भारतीय ‘आनुवांशिकी दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध और एक हैं।’ पांचाल ने द्रविड़ भाषाओं के व्याकरण को लिखने वाले विशप आर. काल्डवेल के कुटिल मकसद को भी उजागर किया है।

एक ओर लेख जिसके बारे में मैं यहाँ कहना चाहूँगा, वह राम निरंजन परिमलेन्दु का है। वह लेख ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय में देवनागरी लिपि को लेकर है। लेख पूरी तरह से अंग्रेजों के समय के सरकारीदस्तावेजों और कागज-पत्रों पर आधारित है। देवनागरी को लेकर ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से कब क्या घोषणायें हुईं, इसका पूरा विवरण प्रामाणिकता के साथ इसमें दिया गया है। पर इस दस्तावेजी विवरण के भीतर झॉककर अंग्रेजी सत्ता की कुटिलता को भी व्याख्यायित किया जाना चाहिये था। मसलन अंग्रेज दिल से यह कम ही चाहते थे कि निचली अदालतों में या राजस्व के कामकाज में देवनागरी का प्रयोग हो। परिमलेन्दु ने लिखा है कि “निस्सन्देह गिलक्रिस्त द्वारा प्रतिपादित हिन्दुस्तानी जबान हिन्दी ही है।” लेकिन यह सही नहीं है। गिलक्रिस्त ने हर जगह उर्दू के लिये हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग किया है। वास्तव में अंग्रेजी सत्ता उर्दू को ही हिन्दुस्तानी कहती थी। इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में सर चार्ल्स लायल ने लिखा है कि “देशी लोग (नेटिब्ज) जिसे उर्दू या उर्दू जबान बोलते हैं, उसी को अंग्रेज हिन्दुस्तानी कहते हैं।”

‘ईस्ट इंडिया कम्पनी’ के अधिनियमों के जो हवाले हैं, और जो घोषणायें उनमें की गई हैं, दरअसल वे घोषणायें कागजों तक ही सीमित थीं। अगर कहीं आन्दोलनों आदि की वजह से देवनागरी का प्रयोग करना पड़ा तो वहाँ भी अरबी फारसी शब्दों से लदी-फँदी उर्दू रही। इसलिये इस तरह की गलत-फहमी में हमें नहीं रहना चाहिये।

जहाँ तक नागरी के रोमनीकरण का सवाल है, तो हमेशा ही अंग्रेजों की यह कूटनीतिक मंशा रही थी कि हिन्दी तथा दूसरी भारतीय भाषाओं को रोमन लिपि में लिखा जाये। इस उद्देश्य को कभी भी उन्होंने छोड़ा नहीं था। उन्होंने हमेशा ही रोमन को अपना देने का दबाव बनाया। जैसे 1907 में पंजाब गर्वनमेंट ने स्कूलों में हिन्दी, उर्दू, पंजाबी के लिये रोमन लिपि को अपना देने का आदेश निकाला था। इस काम को ठीक से अंजाम देने के लिये अंग्रेजों ने रोमन में कुछ मामूली संशोधन भी किये थे, जिससे नागरी के सभी वर्ण उसमें लिखे जा सकें। इसी संशोधित वर्णमाला को ‘इन्टरनेशनल फोनेटिक अल्फाबेट’ (आई.पी.ए.) कहते हैं, जिसे 14 मार्च 1912 को लंदन में भारत

मे रोमन लिपि के प्रचार को लेकर हुई बैठक में अपनाया गया था। 18 अप्रैल 1900 को पश्चिमोत्तर प्रान्त और अवध के ले. गवर्नर मेकडानेल ने फारसी लिपि के साथ नागरी को लागू करने का जो आदेश निकाला था, वह आदेश भी 'उर्दू डिफेन्स एसोसिएशन' (अध्यक्ष - मोहसिन-उल-मुल्क) के तीव्र विरोध के कारण कभी लागू नहीं हुआ। - डॉ. कृपाशंकर सिंह, डी-6, स्ट्रबेरी हिल, शिमला-171002 (हि.प्र.)

आपके संपादन में 'चिन्तन-सृजन' और 'वपंसवहनम' - दोनों का गंभीर एवं विचारोत्तेजक नियमित प्रकाशन, पत्रकारिता के क्षेत्र में एक उदाहरण है। पाश्चात्य संस्कृति एवं बौद्धिकता के क्रूर आक्रमण के समयइन पत्रिकाओं का प्रकाशन अतीव महत्वपूर्ण है।

जन-मार्च 2011 का अंक मेरे समक्ष है। इस अंक में सर्वश्री आचार्य रघुवीर, धर्मपालजी, डॉ. रमानाथ त्रिपाठी, श्री शंकर शरण, डॉ. सदानन्द प्रसाद गुप्त तथा आपका लेख 'शोध परक एवं दिशा निर्देशक हैं। आश्चर्य है कि धर्मपाल की, प्रामाणिक रचनाओं के सत्य पर विचार नहीं हो रहा है। डॉ. रमानाथ त्रिपाठीने एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। श्री शंकर शरण ने अज्ञेय जी के पत्रकार पक्ष पर प्रकाश डाला है तो डॉ. गुप्त ने उनके निबंध साहित्य पर विचार विमर्श किया है। डॉ. कुमार का आलेख तो भारतीय लिपि की समस्या पर विचार कर रहा है।

- डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद, पटना।

'चिन्तन-सृजन' अपने संस्कार, दृष्टिकोण तथा विषय-चयन की दृष्टि से अपरिमेय तथा अनन्य अद्वितीय है। भारतीय सांस्कृतिक प्रवाह का इतना नीरन्ध्र प्रस्तुतीकरण वस्तुतः हिन्दी पत्रकारिता में इसे विशिष्ट स्थान देता है। इसके पाठक इससे निश्चय ही वैचारिक उन्मेष प्राप्त करते हैं।

आज मुझे इसका अप्रैल-जून 2011 का अंक मिला है। यह अंक, पूर्व अंकों की परम्परा में अपना वैशिष्ट्य लिए हुए है।

दो व्यक्ति गत अनुरोधः प्रथमतः यह कि 'सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य' के अन्त में आप अपना पूरा नाम लिखें 'बी.बी. कुमार' नहीं। यह भारतीय तथा हिन्दी के संस्कार के अनुकूल नहीं है। द्वितीयः, अभी तक इसके अंक 'प्रो. विश्वनाथ प्रसाद, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग असम विश्वविद्यालय, सिलचर, असम' के नाम से आते रहे हैं। विश्वविद्यालय की व्यवस्था के अनुसार अब मैं विभागाध्यक्ष नहीं हूँ। ऐसी स्थिति में इसके अंक में मेरा नाम रहे, 'विभागाध्यक्ष' नहीं रहे। तभी मुझे अंक मिल पायेंगे और मैं इसे पढ़कर लाभावित हो सकूँगा।

- विश्वनाथ प्रसाद, प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
असम विश्वविद्यालय, सिलचर-788011(असम)

आस्था भारती की पत्रिका 'चिन्तन-सृजन' को देख-पढ़ का प्रसन्नता होती है। नए-नए विषयों पर मौलिक सोच से भरपूर सामग्री पठनीय और संग्रहणीय भी है।

- बालेन्दु शेखर तिवारी, पूर्व प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
राँची विश्वविद्यालय, राँची-834008।

'चिन्तन-सृजन' पढ़ना, उसपर विचार करना जीवन का जरूरी पाठ बन गया है। आपकी पत्रिका में उत्तरपूर्व, नक्सलवाद, आतंकवाद, जनजातियों आदि की समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार होता है। जन-मार्च 2011 अंक में आतंकवाद के संकट की गहरी पड़ताल हुई है तो समस्या के निराकरण का प्रयास भी हुआ है। समस्या वस्तुतः नक्सलवाद को समझने की है। नक्सली इसका खुले आम इजहार करते हैं कि

उनकी लड़ाई हिंसक तरीके से सत्ता पर काबिज होने की है। परंतु विडंबना विपर्यय वहाँ है, जब बुद्धिमान (तथाकथित और अहंकारी) इसे भारत के विकास की कमी से जोड़ते हैं। वस्तुतः नक्सलवादी आतंकवाद को सुशासन और विकास से जोड़ना ही गलत है और यही सारे फसाद का कारण है। सचाई यह है कि नक्सली ही विकास की धारा अवरुद्ध करने वाले हैं। नागा राष्ट्रीयता और तत्तन्व्य संघर्ष भी निराधार है। उस पर राजनीति करना स्वार्थ की रोटी सेंकनी है। अज्ञेय का निबंध साहित्य पर सदानंदप्रसाद गुप्त का लेख शोधोपजीव्य है और इसमें उनकी जातीय अस्मिता का उद्घाटन हुआ है। यह वही चेतना है जो भारतेंदु के समय उनके साहित्य में दिखाई पड़ती थी - "स्वत्व निज भारत गहै"। यह अपने जातीय स्वरूप को पहचानने और उनकी रक्षा प्राणपन से करने का उद्गार है। इसका विकास और प्रकर्ष अज्ञेय में दिखाई पड़ना है। वह अपने को भारतीय मानने में गौरव का अनुभव करते हैं: "मैं अपने को भारतीय मानता और समझता हूँ। इसमें मुझे एक गौरव का भी बोध होता है जो ऐसा नहीं है कि उदारता का शत्रु हो या कि दूसरी संस्कृतियों के वृत्त में रहनेवालों के प्रति मुझे असहिष्णु बनाए।" डॉ. पुष्पपाल सिंह ने सुनीता जैन के साहित्यकार की गहरी मीमांसा की है। सुनीता जी की काफ़ी कविताएँ मैंने पढ़ी हैं और उन का कवि-रूप मुझपर हावी रहताहैपर जब मैंने उनके पाँचों उपन्यासों का अध्ययन किया, एक शोध-योजना के अंतर्गत, तो पाया कि उनमें उनके स्त्रीवृत्त के बहुआयामी चित्र हैं। पुष्पपाल भाई के अनुसार उनके उपन्यासों में स्त्री को केन्द्र में रखकर उसकी व्यथा-कथा कहते हुए सामाजिक स्थितियों के विद्रूप पर लेखिका का एक प्रतिरोधी सार्थक स्वर उभरा है। सुनीता जी के साहित्य पर यह लेख वैश्वानरों का दिशा-दर्शक है और पुष्पपाल भाई के प्रकांड पांडित्य काअविकृत दर्पण। सभी रचनाओं पर लिखूँ तो प्रबंध हो जाए।

स्तरीय कृति की सार्थक समीक्षा छप रही है यहाँ। इसीलिए आकर्षण है।

संपादकीय में आपका मानना वाजिव है - "आज जो शिक्षा के नाम पर हम अपने बच्चों को दे रहे हैं, वह मात्र सूचना है, बेतरतीबवार सूचना; शिक्षा नहीं। वह

बच्चों की सोच में स्वस्थ बदलाव नहीं लाती; उन्हें अपने परिवेश, संस्कृति, भाषा, परंपरा, धर्म आदि से काटती है” शिक्षा में अपने परिवेश, प्रकृति, समस्याओं और मूल्य का प्रावधान नहीं हो तो शिक्षा का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। शिक्षा जीवन में संघर्ष करना सिखाए, जो करना है, बनना है, वैसी शिक्षा दे। अन्यथा पढ़ लिखकर जीवन समर में कूदना हनुमान-कूद है जिससे हाथ पैर टूटने का खतरा बना रहता है। महेन्द्र भटनागर ने अंचल की यादकर उनकी साहित्यिक- सामाजिक राष्ट्रीय रुचियों का अवलोकन किया है तो उनके पत्र द्वारा उनकी अंतरंग पहचान भी की है। तत्कालीन समाज की साहित्यिक उपलब्धियों और गतिविधियों का चित्रण किया है। परिमलेंदु भाई का आलेख शोधोपजीव्य है, मानक है। यह इस्ट इंडिया कंपनी की शासनावधि में देवनागरी लिपि की स्थिति, उपलब्धि और संभावनाओं का बयान है। उन्होंने इस्ट इंडिया कंपनी के संकल्पों और तत्संबंधी पत्रों, अधिसूचनाओं और आदेशों के आलोक में देवनागरी के उपस्थिति एवं महत्त्व का उल्लेख किया है। अधिनियम संख्या 10, धारा 3, सन् 1809 ई. के तहत इस्ट इंडिया कंपनी सरकार के सिक्कों पर फारसी और देवनागरी लिपियों की प्रविष्टि हुई थी, जो। सितंबर 1835 से प्रभावी हुआ। सिक्कों से देवनागरी लिपि का उन्मूलन कर दिया गया। प्रो. चौबे शिलांग में प्रोफेसर हैं। अतः पूर्वोत्तर क्षेत्र की भाषाओं पर उनका अधिकार है। यहाँ उन्होंने वहाँ की भाषाओं के संदर्भ में हिन्दी अनुवाद की स्थिति पर प्रकाश डाला है। उनका सरोकार इससे है कि एक अनुवादक के क्या गुण हों, जो वह पूर्वोत्तर क्षेत्र की भाषाओं के हिन्दी अनुवाद में सफल हो। हिन्दी अनुवाद और पूर्वोत्तर क्षेत्र की भाषा से संबंधित यह लेख सब दृष्टियों से शोधपरक और नयनोन्मेषक बन पड़ा है।

प्रो. चौबे के इस दिशा में अन्य कार्य भी सराहे गए हैं। सभी लेखक बधाई के पात्र हैं। - **प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, प्रोफेसर एवं पूर्व हिन्दी-विभागाध्यक्ष, विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग; संपादक: संबुद्ध (मासिक) घनवाद-826001.**

चिन्तन-सृजन का स्तरीय प्रकाशन एवं नियत समय पर उसका पाठकों के हाथों में पहुँचना स्तुत्य है। यह आपके बुद्धिमत्तापूर्ण सम्पादन कौशल, परामर्शदात्री समिति के सदस्यों का मागदर्शन और सहसम्पादक डॉ. शंकर शरण जी की तत्परता का सुफल है। चिन्तन-सृजन का प्रत्येक अंक लेखक को तोष और पाठक को मानसिक तृप्ति देता है। मेरी हार्दिक बधाई।

- **डॉ. श्रीराम परिहार, आजाद नगर, खण्डवा-450001.**

चिन्तन-सृजन का वर्ष-8 अंक-3(जनवरी-मार्च 2011) देखने को मिला।

डॉ. रमानाथ त्रिपाठी ने ‘सीता की अग्नि परीक्षा’ प्रसंग में वाल्मीकि व तुलसी की भावधारा तथा आधुनिक युगबोध के बीच संतुलन स्थापित करके ‘रामगाथा’ में

कथाकार की ‘रचना धर्मिता’ का सम्यक निर्वहन किया है। उनका अंकन सामयिक व उपयुक्त है। ‘नारी’ व्यंग लेख में अन्तिम अनुच्छेद नारी की शक्ति का जीवंत आख्यान है।

डॉ. धर्मदेव तिवारी का आलेख प्रत्येक राष्ट्रहित-चिंतक की भावनाओं का ही प्रस्तुतीकरण है। साथ ही हिन्दी भाषी समाज के लिए चेतानवी और कुछ करने के लिए कटिबद्ध होने का आह्वान भी।

डॉ. सदानंद प्रसाद गुप्त, डॉ. पुष्पपाल सिंह सहित इस अंक में प्रकाशित अन्य आलेख भी ज्ञानवर्द्धक होने के साथ अपने अपने विषय पर न्याय करने वाले हैं। अस्तु! आलेखकारों को साधुवाद!

‘को बड़ छोट कहन अपराधू’!

चिन्तन-सृजन के माध्यम से आस्था भारती राष्ट्र-मनीषा की रचनात्मक आस्था को स्वस्थ आयाम देने का सराहनीय, सफल व सार्थक प्रयास कर रही है - एतदर्थ हार्दिक धन्यवाद। प्रभु से प्रार्थना है कि ये वामन चरण अनवरत विराटत्व की ओर संचरण करते रहें।

- **डॉ. रमेश चन्द्र शर्मा, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, एस.डी. कालेज, ई-469 स्टेशन रोड, पनकी, कानपुर-208020।**

आवश्यकता है इस पत्रिका के और अधिक प्रचार करने की जिससे यह लाइब्रेरी तक सीमित न रह जायें।

- **पराक्रम सिंह द्वारा शैलेन्द्र, एफ 2/27 विक्रम विश्वविद्यालय आवासीय परिसर, उज्जैन-456010 (म.प्र.)**